मूलसे ही जिनमें लताएँ पैदा होती हैं और जिनमें शाखा नहीं होती वे *'गुच्छ'* हैं। एक मूलसे ही जहाँ बहुत-से पौधे उत्पन्न होते हैं उन्हें 'गुल्म' कहते हैं। इसी प्रकारसे नाना प्रकारकी तृणजाति और प्रतान, वल्लि आदि सब उद्भिज्जमें हैं।

नोट—२ *'लाख चौरासी जाति'* इति। जीव कर्मवश चौरासी लक्षयोनियोंमेंसे किसी-न-किसी योनिमें जन्म लेता है। मनुष्य चारि खानियोंमेंसे जरायुज खानिमें हैं। पर चौरासी लक्षयोनियोंमें हैं या नहीं इसमें मतभेद है। कोई तो इनको चौरासीसे बाहर मानते हैं अर्थात् कहते हैं कि चौरासीसे छुटकारा मिलनेपर नरशरीर मिलता है। यह बात उत्तरकाण्डके *'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥ कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'* (७। ४४) इस श्रीवचनामृतसे भी पुष्ट होती है। इसमें स्पष्ट कहा है कि परमात्मा इन योनियोंसे छुड़ाकर *'नरदेह'* देता है जो *'भवबारिधि कहँ बेरो' 'साधनधाम मोच्छ कर द्वारा'* है, इसे *'पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥ सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।'* (७। ४३) अर्थात् नरतन पाकर बुरे कर्म किये तो फिर चौरासी भोगना पड़ेगा। प्रायः ज्ञानजन्य मुक्ति तो (सप्तपुरियोंको छोड़कर) बिना मनुष्य-शरीरके कदापि होती ही नहीं। यथा—**'चतुर्विधं शरीराणि धृत्वा मुक्त्वा सहस्रशः। सुकृतान्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात्॥'** (शास्त्रसार) अर्थात् चार प्रकारके हजारों शरीरोंको धारण करके और छोड़कर बड़े भाग्यसे जब वह मनुष्य होता है, तब यदि वह ज्ञान प्राप्त करे तो उसको मोक्ष होता है।

करुणासिन्धुजी और बैजनाथजीने प्रमाणमें धर्मशास्त्रका यह श्लोक दिया है। **'स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नव लक्षकम्। कृर्मेश्च* रुद्रलक्षं च दश लक्षं च पक्षिणः॥ त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः। ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्॥'** अर्थात् बीस लाख स्थावर, नौ लाख जलचर, ग्यारह लाख कृमि, दस लाख पक्षी, तीस लाख पशु और चार लाख वानर योनियाँ हैं। तत्पश्चात् मनुष्य होकर सत्कर्म करे। पञ्चाङ्गोंमें प्रायः इसी प्रकारका एक श्लोक मिलता है। यथा—**'जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः। कृमयो रुद्रलक्षाणि पक्षिणो दशलक्षकाः। त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानवाः॥'** इस श्लोकसे मनुष्यका भी चौरासी लक्ष योनियोंमें ही होना पाया जाता है।

सीयराम मय सब जग जानी

(१) *'जड़ चेतन जग जीव जत'* की वन्दना *'राममय'* मानकर कर चुके, फिर यहाँ *'सीयराम मय'* मानकर वन्दना की, बीचमें व्यष्टिवन्दना की। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'वेदान्तमतसे जगत्को ब्रह्ममय मानकर वन्दना की गयी। जीववादीके मतानुसार केवल जीवकी वन्दना **'देव दनुज नर……'** में की। और सांख्यमतानुसार जगत्की, प्रकृति पुरुषमय मानकर, तीसरी बार वन्दना की गयी। इस तरह तीनों मतोंके अनुसार जगत्को (ब्रह्ममय, जीवमय, प्रकृतिपुरुषमय) मानकर वन्दना की गयी।

(२) सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'पहले गोसाईंजीने हम सब जीवोंके अज्ञानके कारण पृथक्-पृथक् नाम लेकर (यथा, 'देव पितर गन्धर्व' आदि) कहा। अब ऊपरकी चौपाईसे यह दिखलाते हैं जो वेदान्त-शास्त्रका सिद्धान्त है, तथापि फिर इस कथनसे ग्रन्थकार हमलोगोंको ज्ञानी बनाकर कर्मच्युत नहीं करना चाहते और न उन देवताओंका खण्डन करना चाहते हैं, पर यह दिखलाते हैं कि *'सीय राममय'* तभी मनुष्य जान सकता है जब कि हमपर उन देवताओंकी कृपा हो, इसलिये अगली चौपाईको लिखा। शङ्का—देवताओं आदिसे प्रार्थना करनेका क्या कारण है? उत्तर—जीव ज्यों ही माताके गर्भके बाहर होता है उसी समय वह देव, पितृ और ऋषिका ऋणी हो जाता है और बिना उनके ऋणके अदा किये मोक्षका अधिकारी नहीं होने पाता है।……प्रार्थना करते हैं कि अपने कर्जेकी वजहसे विघ्न न डालो।'

(३) मा० प्र० कार लिखते हैं कि उत्तम भक्तोंका लक्षण है कि वे जगत्को अपने इष्टमय देखते हैं। यथा—*'उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत् केहि सन*

* 'कृर्मेश्च' यह पाठ करु०, वै०, तथा पं० ज्वालाप्रसादने दिया है परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'कृमयो' है। इसीसे हमने अर्थ शुद्ध दिया है।

करहिं विरोध॥' (उ० ११२) *'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'* 'राममय' कहनेसे पाया गया कि श्रीरामजी इष्ट हैं; इससे बीचमें व्यष्टि वन्दना करके फिर सबको *'सीय राममय'* कहकर जनाया कि हमारे इष्टदेव श्रीसीतारामजी हैं। (मा० प्र०)

(४) बैजनाथजीका मत है कि *'राममय'* से ऐश्वर्यस्वरूपकी वन्दना की जो जगत्का प्रकाशक है। यथा, *'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।'* और, यहाँ *'सीयराम मय'* कहकर दर्शाया कि मेरे मनमें तो माधुर्यरूप बसा है, मुझे सब *'सियाराममय'* ही दिखायी देते हैं। यथा—*'लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम-लषन अरु सीता।'* (गीतावली ५३)

(५) *'राममय'* और फिर *'सीयराममय'* कहकर दोनोंको अभेद बताया।

(६) *'सीय राममय सब जग'* कहकर जनाया कि जड चेतनात्मक जगत् भी है और उसमें श्रीसीतारामजी व्याप्त हैं। यह विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त है। अद्वैतसिद्धान्तमें वस्तुतः जगत् मिथ्या है पर व्यवहारमें अनुभवमें आता है, इसलिये उसीको लक्ष्य करके *'सब जग'* कहा गया।

'सब जगकी तो दोहेमें वन्दना कर ही चुके, यहाँ *'सीयराममय'* कहकर वन्दना क्यों की ?' इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जड और चेतन सबमें लिङ्गभेदसे स्त्री-पुरुष प्रायः दोनों होते हैं और व्यवहारमें पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको न्यून समझा जाता है। अतः प्रणाम करनेमें सम्भव है कि कदाचित् कोई पुरुषोंको ही प्रणाम माने। इसलिये उसके निराकरणके लिये *'सीय राममय'* शब्द देकर सूचित किया कि मैं स्त्री-पुरुष दोनोंको समान मानकर सबकी वन्दना समान भावसे करता हूँ। यही भाव अध्यात्मरामायणके '**लोके स्त्रीवाचकं यद्यत्तत्सर्वं जानकी शुभा। पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं हि राघव॥ तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किञ्चन।**' (२। १। १९-२०) इन श्लोकोंसे सिद्ध होता है। देवर्षि नारदजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि तीनों लोकोंमें आप दोनोंके सिवा और कुछ नहीं है। स्त्रीवाचक जितने पदार्थ हैं वे सब श्रीजानकीजीके रूप हैं और पुरुषवाचक जो कुछ भी हैं वे सब श्रीरामजी आपके ही रूप हैं। इस तरह *'सीय राममय'* जगत् मानकर वन्दना की। अथवा, प्रत्येक वस्तुको श्रीसीताराममय मानकर वन्दना की।

पद्मपुराण उत्तरखण्डमें भी ऐसा ही कहा है। यथा— '**स्त्रीलिङ्गं तु त्रिलोकेषु यत्तत्सर्वं हि जानकी। पुन्नाम लाञ्छितं यत्तु तत्सर्वं हि भवान् प्रभो॥**' (अ० २४३ श्लोक ३६। अर्थ वही है।

नोट—३ बैजनाथजी लिखते हैं कि जगत्को *'राममय'* वा *'सीयराममय'* देखना यह दशा प्रेमकी संतृप्त नामक बारहवीं दशा है। यथा—*'साधन शून्य लिये शरणागत नैन रँगे अनुराग नशा है। पावक ब्योम जलानल भूतल बाहर भीतर रूप बसा है॥ चिंतव नाहमें बुद्धिमई मधु ज्यों मखियाँ मन जाइ फँसा है। बैजनाथ सदा रस एकहिं या बिधि सो संतृप्त दशा है॥'* इससे सिद्ध होता है कि गोस्वामीजी इस प्रेमपरादशातक पहुँच चुके थे।

टिप्पणी—१ *'जोरि जुग पानी'* इति। जब राममय मानकर वन्दना की तब दोनों हाथ जोड़े थे; इसीसे जब *'सीयराम मय'* मानकर वन्दना की, तब पुनः हाथ जोड़े, जिसमें श्रीरामजानकीजीकी भक्तिमें न्यूनाधिक्य न पाया जावे।

टिप्पणी—२ शङ्का—'ब्रह्म, जीव, प्रकृतिपुरुष' वाले तीनों मतोंको लेकर अथवा ऐश्वर्य, माधुर्य वा अपनी उपासनाके कारण एक बारसे अधिक वन्दना करनी थी तो एकके पीछे दूसरेको कह सकते थे, बीचमें 'आकर' का क्या प्रयोजन था?

समाधान—(क) प्रथम राममय जानकर वन्दना की, फिर '**जीवो ब्रह्मैव केवलम्**' जीववादीमतसे जीवमय ब्रह्मकी वन्दना की। श्रीसीताराममय वन्दना करनेके लिये यह चौपाई बीचकी लिखी। जब केवल पुरुषकी वन्दना की, तब जीवोंकी उत्पत्तिस्थान या जाति न कही; क्योंकि केवल ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति नहीं है। जब प्रकृति-पुरुष दोनों कहा, तब जीवोंकी जाति, उत्पत्तिस्थान इत्यादि भी वर्णन किये; क्योंकि प्रकृति-पुरुषसे

जगत्की उत्पत्ति है। श्रीसीतारामजीसे जगत्की उत्पत्ति है। इसीसे सीताराममय जगत् है। (पं० रामकुमार) (ख) जीवकी जाति प्रकृतिमय दृश्य पदार्थरूप होनेसे है और ब्रह्ममय स्थूल दृष्टिका अदृश्यरूप होनेसे है। (मा० त० वि०) (ग) दोहेके पीछे *'आकर चारि.....'* देकर सूचित किया कि जीवकी संख्या इतनी ही नहीं है जितनी *'देवदनुज.....'* में गिनायी गयी, किन्तु बहुत है और वह सभी *'सीयराम मय'* है।

जानि कृपाकर[१] किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू॥ ३॥

शब्दार्थ—**कृपाकर**=कृपा=आकर=कृपाकी खानि= (कृपा+कर)=कृपा करनेवाले। **किंकर**=दास, सेवक। **छोहू**=कृपा।

अर्थ—मुझे भी कृपाके आकर श्रीरामचन्द्रजीका दास जानकर आप सब मिलकर छल छोड़कर कृपा करें॥ ३॥[२]

टिप्पणी—१(क) *'कृपाकर'* का भाव यह है कि श्रीरामजीकी कृपा सब जीवोंपर है। आप सबको भी मैं सियाराममय मानता हूँ, इससे आपकी कृपा भी जीवपर होनी चाहिये। मैं श्रीरामजीका किंकर हूँ, आप सियाराममय हैं; इससे मुझ किंकरपर आप सब कृपा करें। पुनः, 'सब जीवोंपर रामजीकी कृपा है। यह उपकार मानकर मुझपर कृपा करो कि हमारे ऊपर रामजीकी कृपा है, हम रामजीके किंकरपर कृपा करें।' इससे श्रीसीतारामजी आपपर विशेष प्रसन्न होंगे।

(ख) सब जगत्को सियाराममय मानकर वन्दना की और अपनेमें किंकरभाव रखा, यह गोस्वामीजीकी अनन्यता है। यथा—*'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* (४। ३) आगे अपनेको सन्तोंका बालक कहा है। यथा—*'सुनिहहिं बाल बचन मन लाई,'* *'बाल बिनय सुनि करि कृपा.....'* *'कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल। बाल बिनयसुनि सुरुचि लखि मोपर होहु कृपाल॥'* (१। १४)

(ग) *'सब मिलि'* इति। भाव यह कि—(१) मेरी मति बहुत बिगड़ी है जैसा बारम्बार कहा है, जबतक आप सब-के-सब मिलकर कृपा न करेंगे तबतक न सुधरेगी। पुनः (२) जैसे मैंने सबको मिला दिया सबको ही *'सीयराम मय'* जाना, वैसे ही आप सब मिलकर अर्थात् सीतारामरूप होकर कृपा करें। श्रीरामजीमें छल नहीं है, वैसे ही आप सब हो जायें।

(घ) *'छाड़ि छल'* इति। संसार स्वार्थमें रत है। यथा—*'स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं॥'* (७। ४७) *'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथलागि करहिं सब प्रीती॥'* (४।१२) स्वार्थ ही छल है। यथा—*'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।'* (२। ३०१) गोस्वामीजी कहते हैं कि स्वार्थकी इच्छा मुझसे न कीजिये।

प्रो० गोड़जी—गोसाईंजी सबकी वन्दना करते हैं, जिनमें खल भी हैं। और खलोंका स्वभाव ही छल-कपट है, और यहाँ अपनी गरज है कि वे छोह करें ही, छलके साथ अपना काम न चलेगा। इसीलिये प्रार्थना है कि छल छोड़कर छोह करो। अगर 'सब (खल और सन्त) मिलि'-वाली बात न होती तो छाड़ि छलकी शर्त अनावश्यक होती।

रा० प०—'देव-पितृ आदि अपना-अपना भाग पानेके लिये रामपरायण नहीं होने देते। वे परमगति और मोक्षके अनिच्छुक होते हैं; क्योंकि वे समझते हैं कि हमारे वंशजोंके ज्ञानी, भक्त और मुक्त हो

---

१ आधुनिक किसी-किसी प्रतिमें 'करि' पाठ है।

२ पं० रामकुमारजी 'करि' पाठ लेकर अर्थ करते हैं कि 'मुझे किंकर जानकर कृपा करके छोह करो।' कुछ लोगोंने 'कृपा' और 'कर' दो पद मानकर अर्थ किया है, परन्तु ऐसा करनेसे पूर्वापर पदोंके साथ ठीक-ठीक योजना नहीं होती। द्विवेदीजी इसे जीवोंका सम्बोधन मानते हुए अर्थ करते हैं, 'हे कृपा करनेवाले वा कृपाके आकर सब प्राणी! मुझे भी अपना सेवक समझ.....।'

जानेसे हमें पिण्डदान, बलिभाग न मिलेगा। वे नहीं जानते कि यदि यह जीव रामपरायण हो जाय तो उनकी तृप्ति भलीभाँति हो जायेगी।' [भा० ११। ५ में स्पष्ट कहा है कि जो समस्त कार्योंको छोड़कर सम्पूर्ण-रूपसे शरणागतवत्सल भगवान् मुकुन्दकी शरणमें जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बी अथवा पितृगण किसीका भी दास अथवा ऋणी नहीं रहता। यथा—'**देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥**' (४१)] इसीसे वे विघ्न करते हैं जैसे जरत्कारु ऋषिके पितृने किया था। गोस्वामीजी कहते हैं कि इस स्वार्थके हेतु छल न करो, किन्तु यश प्राप्त करनेके लिये छोह करो।

मा० प्र०—छल दोनों ओर लगता है। अर्थात् मेरे छलपर ध्यान न दो। वह छल यह है कि ऊपरसे रामजीका बनता हूँ और किंकर तो कामादिका हूँ। दूसरे, आपमें जो आपसका वैर है उसके कारण हमसे वैर न मानिये (कि यह तो अमुक देवकी वन्दना करता है जो हमारा वैरी है।) मैं तो सबको एकरूप मानता हूँ।

बैजनाथजी—जीवने अपना नित्यरूप भूलकर नैमित्यरूपमें अपनपौ मान लिया है, इसीसे वह मान, बड़ाई, देहसुख आदिके लिये सदा स्वार्थमें रत रहनेसे छली स्वभावका हो गया। इसीसे देवादि भक्तिमें विघ्न करते हैं। परन्तु जो सच्चे भक्त हैं वे विघ्नोंके सिरपर पैर रखकर चले जाते हैं और जो सकाम हैं वे देवताओंके फल देनेमें भूल जाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि मेरी कोई वासना नहीं है, इसीसे मैं आपको देवादिरूप नहीं मानता हूँ। मैं तो सबको *'सीयराम मय'* मानकर प्रणाम करता हूँ। अतएव छल छोड़कर अपने नित्य रूपका किंकर मानकर मुझपर कृपा करो।

निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करौं सब पाहीं॥ ४॥
करन चहौं रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥ ५॥

शब्दार्थ—**पाहीं**=पास, से। यथा—*'रामु कहा सबु कौसिक पाहीं।'* (१। २३७)

अर्थ—मुझे अपने बुद्धिबलका भरोसा नहीं है, इसीसे मैं सबसे विनती करता हूँ॥ ४॥ मैं श्रीरघुनाथजीके गुणोंकी कथा करना (कहना) चाहता हूँ। पर मेरी बुद्धि थोड़ी है और श्रीरामचरित अथाह है॥ ५॥

नोट—१ *'निज बुधि बल'* इति। बैजनाथजी लिखते हैं कि काव्यके तीन कारण हैं। शक्ति (देवकृपा), व्युत्पत्ति (जो विद्या पढ़नेसे आवे) और अभ्यास, (जो स्वयं परिश्रम करनेसे कुछ दिनमें काव्यकी शक्ति उत्पन्न कर देता है।) यहाँ *'निज बुधि बल'* से निज अभ्यास, बुद्धिसहित विद्या और बल अर्थात् शक्ति तीनोंका भरोसा नहीं है यह बताया। सबसे विनय करते हैं जिसमें सब थोड़ा-थोड़ा दे दें तो बहुत हो जायगा।

नोट—२ (क) *'लघु मति मोरि'*..... इति। यथा— '**मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामनः॥**' अथवा '**कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः। मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्यैवास्ति मे गतिः॥** (रघुवंश सर्ग १। ३-४) अर्थात् मैं मन्द हूँ और कवियोंका-सा यश चाहता हूँ, इससे मेरी उसी प्रकार हँसी होगी जैसे कोई बौना (नाटा) पुरुष ऊँचे स्थानपर स्थित फलको हाथ उठाकर मोहवश उसके लेनेकी इच्छा करनेसे हँसी पाता है। अथवा पूर्व ऋषियोंने इस वंशके वर्णनमें कुछ ग्रन्थ रचे हैं, उन्हींके आधारपर मेरा भी उसमें प्रवेश हो सकता है, जैसे छिदे हुए मणियोंमें सूत्रकी गति होती है। (ख) *'अवगाहा'* शब्दसे जनाया कि रघुपतिगुण समुद्रवत् हैं। कालिदासजीने भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥**' (रघुवंश १। २) अर्थात् कहाँ तो सूर्यवंश और कहाँ मेरी अल्प बुद्धि! (इसपर भी मैं उसका वर्णन करना चाहता हूँ, यह मेरा कार्य ऐसा है जैसा) कोई मोहवश छोटी डोंगीसे दुस्तर सागर पार करना चाहे। (ग) *'लघु मति मोरि चरित अवगाहा।'.....'उपाऊ'* यह उपमेय वाक्य है। *'मन मति रंक मनोरथ राऊ'* यह उपमान वाक्य

है। जैसे दरिद्रको राज्यका मनोरथ असम्भव है वैसे ही मुझ अल्पबुद्धिके लिये श्रीरामचरितवर्णन असम्भव है। इस प्रकार दोनों वाक्योंमें बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव 'दृष्टान्त अलङ्कार' है। (वीरकविजी) ***'चहिअ अमिअ जग जुरै न छाछी'*** लोकोक्ति है।

सूझ न एकौ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥ ६॥
मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरै न छाछी॥ ७॥

शब्दार्थ—**सूझना**=दिखायी देना, ध्यानमें आना। **अंग उपाऊ**=नोटमें देखिये। **राऊ**=राजा। **आछी**=अच्छी, उत्तम। **जुरना** (जुड़ना)=मिलना, मयस्सर होना। **छाछी**=मथा हुआ दही, जिसमेंसे मक्खन निकाल लिया गया हो।=वह मट्ठा जो घी या मक्खन तपानेपर नीचे बैठ जाता है। (श० सा०)।=मट्ठेको दूसरे बरतनमें उँडेलकर मट्ठेवाले बरतनको धोनेसे जो धोवन निकलता है। (पाँडेजी)।=कच्चे दूधका मट्ठा। (अज्ञात)

अर्थ—काव्यके एक भी अङ्ग और उपाय नहीं सूझते। मन और बुद्धि दरिद्र हैं और मनोरथ राजा है॥ ६॥ बुद्धि (तो) अत्यन्त नीची है और चाह (इच्छा, अभिलाषा) ऊँची और अच्छी है। (जैसी कहावत है कि ***'मांगै अमृत मिलै न छाँछ'***) अमृतकी तो चाह है और संसारमें कहीं जुड़ता छाँछ भी नहीं॥ ७॥

नोट—१ ***'अंग'*** इति। प्रधानरूपसे काव्यके अङ्ग ये हैं। रस, गुण, दोष, रीति और अलङ्कार। दोष वस्तुतः काव्यका अङ्ग नहीं है परन्तु बिना दोषोंके ज्ञानके उत्तम काव्यका निर्माण नहीं हो सकता, अतएव उसको भी एक अङ्ग कहा गया है। कवियोंने इन अङ्गोंको रूपकमें कहा है जिससे यह ज्ञात होता है कि कौन-से अङ्ग प्रधान हैं, कौन गौण हैं और कौन त्याज्य हैं। यथा—'**शब्दार्थौ वपुरस्ति काव्यपुरुषस्यात्मारसादिः स्मृतः शूरत्वादिनिभागुणाः सुविदिता दोषाश्च खंजादिवत्। उत्तमसादिवदस्यलङ्कृति च यो ह्यङ्गस्य संस्थानवद् रीतीनां निचयस्त्विदं कविजनैर्ज्ञेयं यशो लिप्सुभिः॥**' (विशेष दोहा १०। ७—१० नोट १में देखिये।)

नोट—२ ***'उपाऊ'*** इति। उपाय अर्थात् कारण। कौन-कौन सामग्री हमारे पास होनेसे हम काव्य कर सकते हैं। उन्हीं सामग्री या साधनको 'उपाय, कारण या हेतु कहते हैं। काव्यप्रकाशमें वे यों कहे गये हैं। (क) शक्ति (ख) लोकवृत्त, शास्त्र और काव्यादिके अवलोकनसे प्राप्त निपुणता। (ग) काव्यज्ञोंके द्वारा शिक्षाके साथ अभ्यास। ये तीनों मिलकर काव्यकी उत्पत्तिमें 'हेतु' होते हैं। यथा, '**शक्तिर्निपुणता लोके शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥**' (काव्यप्रकाश १। ३) कवित्वके बीजरूप संस्कारको 'शक्ति' कहते हैं, जिसके न होनेसे कोई काव्य नहीं बना सकता। यदि कोई बिना उस संस्कारके बनावे तो वह हास्यास्पद होता है। काव्यप्रकाशका मत है कि ये तीनों (शक्ति, निपुणता और अभ्यास) मिलकर ही काव्यके हेतु होते हैं, एक-एक स्वतन्त्र नहीं। पंडितराज जगन्नाथजीका मत है कि काव्यका हेतु एकमात्र 'प्रतिभा' है वे 'प्रतिभा' का अर्थ यह कहते हैं, 'काव्यघटनाके अनुकूल शब्द और अर्थकी उपस्थिति'। प्रतिभाके हेतु दो बताते हैं। एक देवता अथवा महापुरुष आदिका प्रसादजन्य पुण्यविशेष, दूसरा विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य करनेका अभ्यास ('रसगंगाधर' के प्रथम आनन्दके काव्यकारण-प्रसंगमें उनके वाक्य हैं)। (पं० रूपनारायणजी)

नोट—३ अन्य लोगोंने ये अर्थ दिये हैं। **अंग उपाय**= (१) काव्यके अंग और उनके साधन जिससे ये अंग प्राप्त हों। (मानसपरिचर्या)=(२) अंग और उनके साधनके उपाय। (सू० मिश्र)=(३) एक भी पक्षका उपाय, किसी तरहकी तदबीर। (गौड़जी) (४) हे मित्र वा अंगमें एक भी उपाय (मा० पत्रिका)।

टिप्पणी—१ (क) मनोरथको राजा कहा, क्योंकि श्रीरघुनाथजीके गुणगानका मनोरथ है। मन, मतिको रङ्क कहा; क्योंकि ये रामयशमें प्रवेश नहीं कर पाते और न एक भी अंग उपाय इनको सूझता है। रघुपतिगुणकथनमें तो सब अंग सूझने चाहिये। (ख) मन और मति दोनोंको रङ्क कहा है। इनको राजा करनेके लिये आगे तीर्थमें स्नान करावेंगे; मतिको मानसमें, यथा—*'**अस मानस मानस चष चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥**'* (बा० ३९) और मनको सरयूमें स्नान कराया, यथा—*'**मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ॥**'* (१। ४३) दोनोंको इस प्रकार निर्मल करके तब कथा कहेंगे। (ग) ***'मति अति***

नीचि' इति। रघुनाथजीके चरित्र कहनेकी योग्यता नहीं है, इसीसे बारम्बार मतिकी लघुता कहते हैं, *'अति नीचि'* है अर्थात् विषयमें आसक्त है। यथा—*'कहं मति मोरि निरत संसारा', 'क्व चाल्पविषया मतिः।'* इसीसे नीच कहा। रामयश-कथनकी रुचि है, इसीसे रुचिको ऊँची और अच्छी कहा। रामचरित-कथनरूपी अमृत चाहते हैं, विषय-सुखरूपी छाँछ नहीं जुड़ता। (घ) *'जग'* का भाव यह कि जगत्‌के पदार्थ छाँछ हैं। (नोट—*'छाँछी'* से सांसारिक चर्चा, व्यवहारकी बातों, प्राकृत राजाओं-रईसोंके चरित-गान इत्यादिका ग्रहण है। इन बातोंका तो बोध है ही नहीं, फिर भला अप्राकृत और शास्त्रीय बातोंको क्या लिखूँगा?) मनको चाहिये कि अपने लक्ष्यमें प्रवृत्त हो, बुद्धि उसे विचारे और विचारी हुई वस्तुको ग्रहण करे, सो दोनों इसमें नहीं।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥ ८॥
जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥ ९॥
हंसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर दूषन भूषन धारी॥ १०॥

शब्दार्थ—**ढिठाई**=धृष्टता, गुस्ताखी, अनुचित साहस। **तोतरि** (तोतली)=बच्चोंकी-सी अस्पष्ट वाणी या बोली।=अस्पष्ट, जो ठीक समझमें न आ सके। **कूर** (क्रूर)=निर्दयी, कड़े स्वभावके, जिसका किया कुछ न हो सके, दुष्ट, दुर्बुद्धि। यथा—*'कूप खनत मंदिर जरत आये धारि बबूर। बवहिं नवहिं निज काज सिर कुमति सिरोमनि कूर॥'* (दोहावली ४८७) **कुटिल**=टेढ़े, कपटी। यथा—*'आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥'* (४। ७) **कुबिचारी**=बुरे विचार या समझवाले। **दूषन** (दूषण)=दोष, बुराई। **भूषन** (भूषण)=गहना, जेवर।

अर्थ—सज्जन मेरी ढिठाईको क्षमा करेंगे। मुझ बालकके बचन (वा, मेरे बालवचन) मन लगाकर सुनेंगे॥ ८॥ जैसे बालक जब तोतले वचन बोलता है तो उसके माता-पिता प्रसन्नमनसे सुनते हैं॥ ९॥ क्रूर, कुटिल और बुरे विचारवाले, जो पराये दोषोंको भूषणरूपसे धारण करनेवाले हैं, वे ही हँसेंगे॥ १०॥

नोट—१ (क) *'छमिहहिं सज्जन·····'* इति। यहाँ श्रीजानकीदासजी यह शङ्का उठाकर कि 'प्रार्थना तो देव-दनुज इत्यादिसे की कि हमपर कृपा कीजिये तो उन्हींसे ढिठाई भी क्षमा करानी चाहिये थी। ऐसा न करके कहते हैं कि *'छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई'* यह कैसा?' इसका समाधान भी यों करते हैं कि देवदनुज आदिकी प्रार्थना करते हुए जब यह कहा कि *'सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू।'* तब उनकी ओरसे सम्भव है कि यह कहा जाय कि 'तुम कथा तो सज्जनोंके लिये कहना चाहते हो। यथा—*'साधु समाज भनिति सनमानू।'* (१) 'तो कृपा भी उन्हींसे चाहो'। इस बातका उत्तर गोस्वामीजी यहाँ दे रहे हैं कि सज्जन तो कृपा करेंगे ही, यह तो उनका स्वभाव ही है। परन्तु आप भी कृपया यह आशीर्वाद दें। श्रीभरतजीने भी ऐसा ही श्रीवसिष्ठजीकी सभामें कहा था। यथा—*'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥ तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी॥ सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥ अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥ तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥ जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥ जद्यपि जनम कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥'* (२। १८३) भाव यह कि मुझे सज्जनोंकी ओरसे पूरा भरोसा है, आप सब कृपा करें। यहाँ प्रश्नलुप्ता उत्तर है।

(ख) *'सुनिहहिं बाल बचन·····तोतरि बाता'* इति। यहाँ *'बाल बचन'* कहकर फिर *'तोतरि बाता'* कहा। इस प्रकार दोनोंको पर्यायवाची शब्द जनाये। 'तोतरी' अर्थात् टूटी-फूटी, अस्पष्ट और अशुद्ध जिसमें अक्षरका भी स्पष्ट उच्चारण नहीं होता। भाव यह है कि जैसे बालकको लड्डूकी चाह हुई तो वह अड्डू-अड्डू कहता है। माता-पिता इन तोतले वचनोंको सुनकर प्रसन्न होते हैं, उसका आशय ध्यान देकर सुनकर समझ लेते

हैं और उसे लड्डू दे देते हैं। यहाँ भदेस वाणी (भनित भदेस) को मन लगाकर सुनना और प्रसन्न होना लड्डूका देना है। यथा—*'बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥'* (२। १३६)

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'जगन्मात्रके प्राणियोंको सीताराम-समान जानकर प्रणाम किया, इसलिये सब तुलसीदासजीके माता-पिता हुए। इसलिये बालककी अटपटी बात सुनकर सब प्रसन्न होंगे। यह ग्रन्थकारकी आशा ठीक है, उसमें भी जो पुत्रादिनी सर्पिणीकी तरह अपने पुत्रहीके खानेवाले हैं, उन क्रूर-कुटिल कुविचारियोंका हँसना ठीक है।

पंजाबीजी कहते हैं कि *'सुनिहहिं बाल बचन'* पर यह प्रश्न होता है कि मूर्खोंके वाक्य कोई मन लगाकर कैसे सुनेगा? इसीपर कहते हैं कि *'जौं बालक कह'''''।'*

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि *'जौं बालक'* कहकर आपने सज्जनोंसे पुत्र और माता-पिताका नाता जोड़ा। खलोंसे कुछ नाता नहीं है। यथा, *'खल परिहरिय स्वान की नाईं।'* (७। १०६)।

नोट—२ 'हँसिहहिं कूर' इति। (क) यहाँ हँसनेवाले चार प्रकारके गिनाये; आगे दोहेमें इन चारोंका विवरण करेंगे। (ख) इस कथनमें यह सन्देह हुआ कि जो हँसेंगे उनकी कविता अवश्य उत्तम होती होगी, उसपर आगे कहते हैं कि यह बात नहीं है *'निज कबित्त'*। (ग) *'जे पर दूषन भूषन धारी'* इति। भाव यह कि अपनेमें कोई गुण है नहीं जिससे भूषित होते। इसलिये दूसरोंके दोषोंको ढूँढ़कर दिखाना, यही धारणा ग्रहण की है। दूसरोंका खण्डन करना, उनपर कटाक्ष करना, यही उनका भूषण है, इसीको उन्होंने पहिन रखा है। आज भी न जाने कितने स्वयं तो इतनी समझ नहीं रखते कि गोस्वामीजीके गूढ़ भावोंको, उनके उद्देश्यको समझें, उलटे-पलटे कटाक्ष करते हैं, जिसमें वे भी अच्छे साहित्यज्ञ वा आलोचक समझे जावें। यह तात्पर्य *'कुबिचारी'* शब्दका है। *'क्रूर'* से स्वभाव कहा, *'कुटिल'* से बुद्धि निकृष्ट बतायी और *'कुबिचारी'* से विचार खोटे बताये। मिलान कीजिये। '**तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥**' (रघुवंश १। १०) '**मक्षिका व्रणमिच्छन्ति दोषमिच्छन्ति दुर्जनाः। भ्रमराः पुष्पमिच्छन्ति गुणमिच्छन्ति साधवः॥**' '**गुणगणगुम्फितकाव्ये मृगयति दोषं खलो न गुणजातम्। मणिमयमन्दिरमध्ये पश्यति हि पिपीलिका छिद्रम्॥**' (शतदूषणम्)(संस्कृत-खर्रेसे) अर्थात् गुण-दोषके जाननेवाले महात्मालोग ही इस प्रबन्धके श्रोता होनेके योग्य हैं, जैसे सोना दागी (खोटा) है या शुद्ध (खरा) यह अग्निमें परीक्षासे ही जाना जाता है। (रघुवंश) मक्खियाँ घावकी ही इच्छा करती हैं, दुर्जन दोष (खोज पाने) की ही इच्छा करते हैं, भौंरे फूलको और साधु गुणको ढूँढ़नेकी इच्छा करते हैं। गुणगणयुक्त काव्यमें दुष्ट दोष ही देखता है न कि गुण, जैसे मणिखचित भूमिमें भी च्यूँटी छेद ही ढूँढ़ती है। (शतदूषणी) उत्तररामचरितमें भी कहा है कि '**यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।**' (१। ५) अर्थात् स्त्रियोंकी साधुताके विषयमें जैसे लोग प्रायः दुर्जन ही होते हैं, उसी तरह वाणी (कविता) के भी साधुत्वके विषयमें लोगोंकी दोषदृष्टि ही रहती है। यही *'परदूषण भूषणधारी'* का भाव है।

निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका॥ ११॥
जे पर भनित[१] सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥ १२॥

शब्दार्थ—**सरस**=रसीली; जिसमें काव्यके नवों रस और अलङ्कारादि हों।=अच्छी। **अथवा** =वा, या, चाहे। **फीका**=नीरस। **भनित** (भणित)=कही हुई बात; वाणी, कविता। **बर**=श्रेष्ठ।

अर्थ—अपनी बनायी हुई कविता किसको अच्छी नहीं लगती (अर्थात् सभीको अपनी कविता अच्छी लगती है) चाहे वह रसीली हो चाहे अत्यन्त फीकी?॥ ११॥ जो दूसरेकी कविता सुनकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ लोग संसारमें बहुत नहीं हैं॥ १२॥

---

१ भनिति-१७२१, १७६२, छ०। भनित-१६६१, रा० प० (काशिराज)।

नोट—१ (क) *'निज कबित्त केहि······'* इति। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'क्रूर कुटिल, बुरे विचारवाले हँसेंगे।' इसपर यदि कोई कहे कि और लोग भले ही आपकी कविताकी प्रशंसा न करें पर आप तो श्रेष्ठ समझते हैं। उसपर कहते हैं *'निज कबित्त केहि लाग न नीका।'* इस तरह वे इस अर्धालीको गोस्वामीजीमें लगाते हैं पर अगली अर्धालीसे यह भाव सङ्गत नहीं है। पं० रामकुमारजी एवं बाबा जानकीदासजीका ही कथन विशेष सङ्गत है कि वे लोग हँसते हैं तो उनकी कविता तो अच्छी होगी ही तभी तो वे दूसरोंकी कवितापर हँसते हैं, उसीपर कहते हैं कि यह बात नहीं है। (ख) अपना कवित्त सभीको प्रिय एवं उत्तम लगता है। जैसे अपनी बनायी रसोई अपनेको प्रिय लगती है। अपना दोष किसीको नहीं सूझता, वह दोषको भी गुण कहता और समझता है। यथा—*'तुलसी अपनो आचरन भलो न लागत कासु। तेहि न बसात जो खात नित लहसुनहू को बासु॥'* (दोहावली ३५५) अपने दहीको खट्टा होनेपर भी कोई उसे खट्टा नहीं कहता, सभी अच्छा (मीठा) कहते हैं। यह लोकरीति है। इसी प्रकार हँसनेवालेकी कविता नीरस एवं दोषोंसे भरी भी होती है तो भी वे उसको उत्तम ही समझते हैं, उसपर प्रसन्न होते हैं, तो इसमें आश्चर्य क्या? पर दूसरेकी कविता उत्तम भी हो तो भी वे कभी उसे सुनकर प्रसन्न न होंगे। २—यहाँ दो असमान वाक्योंकी समता 'प्रथम निदर्शना अलङ्कार' है। ३—*'ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं'* इति। *'बर'* से जनाया कि दूसरोंकी वाणीपर जो प्रसन्न होते हैं वे 'श्रेष्ठ' हैं। इन्हींको आगे 'सज्जन' कहा है। ऐसे लोग कम हैं। यह कहकर जनाया कि अपने कवित्तहीपर प्रसन्न होनेवाले बहुत हैं। आगे इसीकी उपमा देते हैं।

जग बहु नर सर[1] सरि सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई॥ १३॥
सज्जन सकृत[2] सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़ै जोई॥ १४॥

शब्दार्थ—**सर**=तालाब। **सरि**=नदी। बाढ़ि (बाढ़)=बढ़ती, वृद्धि, उन्नति। यथा, *'सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी।'* (६। ९८)।=नदी या जलाशयके जलका बहुत तेजीसे और बहुत अधिक मानमें बढ़ना। **सकृत**=एक। **सिंधु**=समुद्र। **पूर**=पूरा; पूर्ण। **बिधु**=चन्द्रमा।

---

१ सरि सर- १७२१, १७६२। सर सरि-१६६१, १७०४, छ०। १६६१में पहले 'सुरसरि' था परन्तु 'ु' पर हरताल है और 'स' स्पष्ट है। इसमें सन्देह नहीं है। ना० प्र० सभाकी प्रतिमें 'सुरसरि' पाठ है। अयोध्याजीके मानसविज्ञोंकी छपाई हुई प्रतियोंमें एवं अनेकों अन्य प्राचीन प्रतियोंमें 'सर सरि' वा 'सरि सर' पाठ मिलता है। सुधाकर द्विवेदीजीका भी यही पाठ है। 'सरि' में 'सुरसरि' भी आ जाती हैं और 'क्रूर, कुटिल, कुविचारियों' के लिये 'सुरसरि' का उदाहरण देनेमें जो सन्तोंको सङ्कोच होता है, वह भी सर सरि पाठमें नहीं रहता। पुनः, गोस्वामीजी यहाँ कह रहे हैं कि ऐसे मनुष्य बहुत हैं, इसी प्रकार तालाब और नदियाँ भी बहुत हैं। दो बातोंके लिये दो दृष्टान्त क्रमसे दिये गये हैं। 'निज कबित्त' का दृष्टान्त 'जग बहु नर सर सरि' है और 'जे पर भनित सुनत हरषाहीं' का दृष्टान्त 'सज्जन सकृत सिंधु' है। यथासंख्य-अलङ्कार है।

२ सुकृत—पं० शिवलाल पाठक, को० रा० वै०। परन्तु पं० शिवलाल पाठककी परम्परावाले श्रीजानकीशरणजीने 'सकृत' पाठ दिया है। सकृत —१६६१, १७०४, छ०। 'सुकृत' पाठ लेकर 'सज्जन सुकृत सिंधु' का दो प्रकारसे पदच्छेद किया जाता है। 'सज्जन सुकृत-सिंधु-सम' और 'सज्जन-सुकृत सिंधु-सम'। अर्थात् किसीने 'सुकृत' को 'सिंधु' का और किसीने 'सज्जन' का विशेषण माना है। सुकृतसिंधु=पुण्यसमुद्र। सज्जन सुकृत=सुकृती सज्जन। 'सकृत' का अर्थ 'एक बार' है। यथा, 'सकृत्सहैकबारे' इति अमरकोश। अर्थात् साथ, सङ्ग तथा एक बार परन्तु गोस्वामीजी कहीं-कहीं उसका 'एक' और 'कोई' अर्थमें प्रयोग करते हैं। जैसे, 'जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल' (अ० २८१) तथा 'सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई' (७। ५४)। इस प्रकार यहाँ भी 'सकृत' पाठ है और उसका 'एक' अर्थ गृहीत है। और 'सुकृत' पाठ माननेमें भी अच्छा अर्थ बन जाता है, क्योंकि कवि इस समय सज्जनोंके गुणगानमें प्रवृत्त हैं, अतः उनके प्रति उनकी आस्था होना स्वाभाविक है और इसलिये विशेषणात्मक 'सुकृतसिंधु' पाठ भी संगत प्रतीत होता है। पर अधिकांश रामायणियोंका मत 'सकृत' हीके पक्षमें है। काशिराज, सुधाकर द्विवेदीजी और बन्दन पाठकजीका भी यही पाठ है।

अर्थ—हे भाई! संसारमें तालाबों और नदियोंके समान मनुष्य बहुत हैं जो (इतर) जल पाकर अपनी ही बाढ़से बढ़ते हैं॥ १३॥ समुद्र-सा (तो) कोई ही एक सज्जन होता है जो चन्द्रमाको पूर्ण देखकर (अर्थात् दूसरेकी उन्नति देखकर) बढ़ता है॥ १४॥

टिप्पणी—१ *'जग बहु नर सर सरि सम'''''''* इति। (क) नदी और तालाब थोड़े पानीसे उतरा उठते हैं, समुद्र बहुत भी जल पाकर नहीं बढ़ता। वैसे ही खल थोड़ी ही विद्या पाकर उन्मत्त हो जाते हैं, सज्जन समुद्रसम विद्यासे पूर्ण हैं, तो भी उन्मत्त नहीं होते। (यह भाव 'बाढ़' का अर्थ 'मर्यादा' लेकर कहा गया है।) (ख) नदी बढ़कर उपद्रव करती है, तालाब अपनी मर्यादाको तोड़ डालते हैं। [वैसे ही नीच लोग भी कुछ विद्या और धन पाकर अपने कुलकी मर्यादा छोड़कर सबको तुच्छ मानने लगते हैं। '**अधनेन धनं प्राप्तं तृणवन्मन्यते जगत्।**' यह नीच स्वभाव है। (सू० मिश्र)] (ग) जो अपनी बाढ़से बढ़ते हैं (जैसे नदी, तालाब) उनकी बाढ़ अल्पकाल रहती है (अर्थात् वे वर्षाके पीछे फिर घट जाते हैं), जो परायी बाढ़ देखकर बढ़ते हैं (जैसे समुद्र), उनकी बाढ़ प्रति पूर्णिमाको बारहों मास रहती है।

टिप्पणी—२ *'निज बाढ़ि बढ़हिं'* इति। भाव यह है कि तालाब अपनेमें जलकी बाढ़ अर्थात् अधिकता पाकर उछलने लगते हैं, वैसे ही थोड़ी विद्या-वैभववाले इतराने लगते हैं, अपनी वृद्धि देख हर्षसे फूले नहीं समाते, दूसरेकी वृद्धिसे उनको हर्ष नहीं होता। यथा, *'छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरेहुँ धन खल इतराई॥'* (४। १४)

टिप्पणी—३ *'सज्जन सकृत सिंधु सम कोई।''''''''* इति। (क) समुद्र सदा पूर्ण रहता है। अपनेमें बहुत नदियोंका जल नित्य पाकर भी नहीं उछलता। पर जब चन्द्रमा पूर्णिमाको पूर्ण बढ़ा दिखायी देता है तब वह उछलने लगता है। समुद्रमें ज्वारभाटा होना ही हर्ष है। यथा—*'राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान। बढ़ेउ कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥'* (उ० ३) *'सोभत लखि बिधु बढ़त जनु बारिधि बीचि बिलासु।'* (अ० ७) इसी तरह सज्जन दूसरोंकी पूरी बढ़ती देख प्रसन्न होते हैं।

[(ख) द्विवेदीजी *'सज्जन सकृत सिंधु'* का भाव यह लिखते हैं कि सज्जन विरला ही समुद्र-सा होता है जो पूर्णचन्द्रमें इसका सम्पूर्ण कलङ्क देखकर भी उसका ध्यान न कर उसके अमृतमय किरणोंको देखते ही नीच जड (जल)का सङ्ग होनेपर भी आह्लादित होता है, इसी प्रकार सन्त दोषका ध्यान न कर थोड़े गुणको भी देखकर आह्लादित होता है, प्रशंसा ही करता है। भर्तृहरिजीने कहा है, '**परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥**' (नीतिशतक ७९) अर्थात् (सज्जन विरले ही हैं) जो दूसरोंके परमाणु-बराबर गुणोंको पर्वतके समान बढ़ाकर अपने हृदयको प्रफुल्लित करते हैं।]

टिप्पणी—४ (क) *'जग बहु'* का भाव कि जैसे संसारमें तालाब और नदियाँ अगणित हैं वैसे ही अपनी बढ़तीसे प्रसन्न होनेवाले अथवा थोड़ी विद्यासे भी इतरानेवाले लोग संसारमें बहुत हैं। *'सर'* *'सरि'* से भी अधिक हैं तथा *'सर'* शब्द छोटा है अतः इसे प्रथम रखा। पुनः भाव कि [(ख) जैसे तालाब और नदी यदि ऊपरका जल न पावें तो नहीं बढ़ते, क्योंकि पूर्ण नहीं हैं, वैसे ही सर और सरिता के समान बहुतेरे लोग ऐसे ही हैं जो इधर-उधरसे दो-चार बातें सीखकर वक्ता बन जाते हैं, दूसरोंके काव्यकी या ग्रन्थके भावोंकी चोरी करके स्वयं कवि या पण्डित और लेखक बनकर फूले-फूले फिरते हैं कि हमारी बराबरीका कौन है, क्योंकि वे अपूर्ण हैं। ऐसे लोग दूसरोंकी कीर्ति देख जलते हैं, जिनकी चोरी करें उन्हींको दूषण देकर अपनी वाणीकी प्रशंसा करते हैं। सज्जन स्वयं परिपूर्ण हैं और दूसरेकी भनित अर्थात् कविता सुनकर आह्लादित होते हैं। (मा० प्र०) पुनः, (ग) बहुत-से नर तालाबके समान हैं और बहुत-से नदीके समान हैं। तालाब वर्षाका जल पाकर बढ़ते हैं, उनमें स्वयं अपनेसे बढ़नेकी गति नहीं है; वैसे ही जिनमें विद्या और शक्ति नहीं है, केवल अभ्यास है, वे औरोंकी वाणीको काट-छाँटकर अपने नामसे बनाकर प्रसिद्ध होते हैं। ऐसे लोग *'सर'* समान हैं। नदियाँ जिनका मूल स्रोत हिमालय आदि

पर्वत हैं वे अपनी बाढ़से बढ़ती हैं। ज्येष्ठमासमें बर्फके गलनेपर वे अपने-आप अपनी बाढ़से बढ़ जाती हैं, वैसे ही जो विद्या और शक्ति भी पाये हुए हैं वे अपनी उक्तिसे काव्य बनाकर देशोंमें प्रसिद्ध हुए; ये नदीके समान हैं। समुद्र न अपनेसे बढ़े और न वर्षाजल पाकर बढ़े। वह पूर्णचन्द्रको देखकर बढ़ता है। वैसे ही सज्जन न तो अपना काव्य दिखाकर अपनी प्रसिद्धि चाहें और न किसीके काव्यादिको काट-छाँटकर अपना नाम धरकर प्रसिद्ध होनेकी चाह करें। वे तो श्रीरामयशरूप पूर्णचन्द्रको देखकर ही आह्लादित हो बढ़ते हैं। अर्थात् जिस ग्रन्थमें सुन्दर श्रीरामयशका वर्णन देखते हैं, अपनी विद्या और शक्तिसे उसपर तिलक करके उसके द्वारा लोकमें प्रसिद्ध होते हैं। जैसे श्रीमद्भागवतपर श्रीश्रीधरस्वामी, वाल्मीकीयपर पं० शिवलाल पाठक आदि। (वै०)]

नोट—१ *'भाई'* इति। यह प्यारका सम्बोधन सबके लिये है। अपने मनको भी इससे सम्बोधन किया है। यथा—*'जो नहाइ चह एहि सर भाई।'* (१। ३९) *'करहि बिचारु करौं का भाई'* (१। ५२। ४) तथा *तरु पल्लव महँ रहा लुकाई।'* (५। ९। १) देखिये।

नोट—२ बाबा हरिदासजी *'देखि पूर बिधु'* का भाव यह लिखते हैं कि गोस्वामीजी *'कबि कोबिद मानस मंजु मराल'* से विनय करते हैं कि मेरी कविता ऐसी हो जैसे पूर्णचन्द्र। (अर्थात् वे अपने काव्यको यहाँ पूर्णचन्द्र कह रहे हैं।) जैसे पूर्णचन्द्र तापहारक, प्रकाशक और अमियरूप होता है, वैसे ही मेरे काव्यचन्द्रमें श्रीरामसुयश अमृत है, उससे मोहनिशामें सोते हुए ईश्वरविमुख, मृतकरूप, त्रयतापयुक्त, भवरोगपीड़ित जीव पठन, श्रवण, मनन करके सर्व बाधारहित हो जायँगे।

नोट—३ गोस्वामीजीने सज्जनोंको माता-पिता और अपनेको पुत्र माना है जैसा—*सुनिहहिं बाल बचन'* और *'जौं बालक कह'* में बता आये हैं। माता-पिता बालकके तोतले वचनपर प्रसन्न होते हैं। इस सम्बन्धसे समुद्र और पूर्णचन्द्रका उदाहरण बहुत उपयुक्त हुआ है। चन्द्रमाकी उत्पत्ति समुद्रसे हुई है, अतः समुद्र माता-पिता है और चन्द्र पुत्र। जैसे वह अपने पुत्रको पूर्ण देख प्रसन्न होता है, वैसे ही सज्जन मेरे काव्यको सुनकर, देखकर प्रसन्न होंगे यह ध्वनित है।

दो०—भाग छोट अभिलाषु बड़ करउं एक बिश्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब[१] खल करिहहिं उपहास॥ ८॥

शब्दार्थ—**भाग**=भाग्य। **अभिलाषु**=इच्छा। **उपहास**=हँसी।

अर्थ—मेरा भाग तो छोटा है और इच्छा बड़ी है (पर) मुझे एक विश्वास है कि इसे सुनकर सब सज्जन सुख पावेंगे और खलगन हँसी उड़ावेंगे*॥ ८॥

पं० रामकुमारजी—(क) पहले कहा कि मति रङ्क है, मनोरथ राजा है। मनमतिके अनुकूल मनोरथ नहीं है, तो क्योंकर पूरा हो? मनमति अच्छे न सही, यदि भाग्य ही अच्छा हो तो भी अभिलाषा पूरी हो जाती है, सो भी नहीं है। भाग्य छोटा है अर्थात् भाग्यके अनुसार अभिलाषा नहीं है। (ख) *'एक बिश्वास'* का भाव यह है कि भाग्यका भरोसा नहीं है और न बुद्धिहीका। यथा—*'निज बुधि बल भरोस मोहिं नाहीं।'* एक विश्वास सन्तोंके सुख पानेका है।

द्विवेदीजी—एक विश्वास है कि सज्जन रामचरितके कारण प्रसन्न होंगे और खल हँसी करेंगे पर इससे उनको भी सुख ही होगा, क्योंकि सुखके बिना उपहास नहीं उत्पन्न होता। भास्कराचार्यजीने भी

१—१६६१, १७०४, मानस-परिचर्या, पं० शिवलाल पाठक, ना० प्र० सभा, मानस-पत्रिकाका पाठ 'सब' है। १७२१, १७६२, छ० में 'जन' है।

* कालिदासजीने भी ऐसा ही कहा है, 'मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।' यहाँ 'आत्मतुष्टिप्रमाण' अलङ्कार है।

सिद्धान्त-शिरोमणिमें लिखा है कि '**तुष्यन्तु सुजना बुद्ध्वा विशेषान् मदुदीरितान्। अबोधेन हसन्तो मां तोषमेष्यन्ति दुर्जनाः॥**' ॥ ८॥

श्रीजानकीदासजी—'*भाग छोट*' अर्थात् प्राकृत कवियोंमें बैठनेयोग्य। '*अभिलाषु बड़*' अर्थात् व्यास, वाल्मीकि इत्यादिके बराबर बैठनेकी। भाव यह कि चाह तो है कि मेरी कविता व्यासादिके समान प्रामाणिक मानी जावे पर ऐसी योग्यता है नहीं।

बैजनाथजी—भाग छोटा है अर्थात् श्रीरामयशगायकोंमें मेरा हिस्सा छोटा है। तात्पर्य यह कि एक तो कलिका कवि, दूसरे बुद्धिविद्याशक्तिहीन, उसपर भी यह भाषाका काव्य! सब दोष-ही-दोष हैं तब इसका आदर कौन करेगा? अभिलाषा=भविष्यकी वस्तुका पूर्व ही मनोरथ करना।

बाबा हरिदासजी—भाग छोटा है अर्थात् पूर्वजन्मोंका संचित पुण्य नहीं है। अभिलाषा रामयशगानकी है, सो बिना पूर्वके सुकृतके हो नहीं सकता। पर मेरी अभिलाषा सुन सज्जन सुखी होंगे, मुझपर कृपा करेंगे और उनकी कृपा अघटितघटनापटीयसी है अतः वह अभिलाषा पूर्ण हो जायगी। खल परिहास करेंगे कि अरे! वह तो अपने मुँह ही कहता है कि मेरे अघ सुन नरकने भी नाक सकोड़ी, तब भला वह कैसे रामयश गा सकता है? वह तो हमारा सजातीय है।

नोट—१ (क) '*सम प्रकास तम पाख दुहुँ*..........' इस दोहेतक कुसङ्ग-सुसङ्गसे हानि-लाभ दिखाया। '*जड़ चेतन जग जीव जत*..........' से '*सीयराम मय सब जग जानी*.....' तक वन्दना की। '*जानि कृपाकर किंकर मोहू*' से '*मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी*' तक अपना मनोरथ कहकर विनय की। '*छमिहहिं सज्जन*' से '*पैहहिं सुख सुनि*.....' तक साधु-असाधुके निकट अपनी कविताका आदर-अनादर कहा।

(ख) सज्जनोंके सुननेके ५ हेतु लिखे हैं। (१) सज्जन मेरे माता-पिता हैं, मैं उनका बालक हूँ। वे मेरी तोतरी बात सुनेंगे। यथा—'*छमिहहिं सज्जन मोरि*.....।' (२) बड़े दूसरेकी वृद्धि देखकर प्रसन्न होते हैं। '*सज्जन सकृत सिंधु*.....'। (३) श्रीरामभक्तिसे भूषित जानकर सुनेंगे। '*रामभगति भूषित जिय जानी।*' (४) श्रीरामनामयश-अङ्कित जानकर सुनेंगे। '*सब गुनरहित कुकबिकृत बानी।*.....' और, (५) श्रीरामयश जानकर सुनेंगे। '*प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी।*' इसी प्रकार खलोंके न सुननेके ५हेतु कहे हैं। यथा, '*हंसिहहिं कूर*' १, '*कुटिल*' २, '*कुबिचारी*' ३, '*जे परदूषन भूषनधारी*' ४ और '*जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई*' ५।

खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥ १॥

शब्दार्थ—**परिहास**=उपहास, हँसी। **हित**=भला, कल्याण। **कलकण्ठ**=मधुर कण्ठवाली, कोकिल, कोयल। कठोर=कड़ा।

अर्थ—खलोंके हँसनेसे मेरा हित होगा। (क्योंकि) कौवे कोकिलको कठोर कहते ही हैं॥ १॥

नोट—१ '*होइ हित मोरा*' इति। कैसे हित होगा? इस तरह कि—(क) सुननेवाले कहेंगे कि देखिये तो यह दुष्ट कौवा कोकिलको कठोर कहता है, वैसे ही मेरे भणितको अर्थात् कविताको जब खल हँसेंगे और कहेंगे कि यह तो प्राकृत वाणी है तब सज्जन कहेंगे, देखिये तो यह कैसी दिव्य वाणी है, इसे ये दुष्ट प्राकृत कहते हैं। सज्जनोंके मुखसे बड़ाईका होना ही हित है। (मा० प्र०) (ख) खलोंकी बातको कोई प्रमाण नहीं मानता। वे सच्चा ही दूषण लगावेंगे तो भी सब उसे झूठा ही समझेंगे। इस तरह उनके मुखसे जो दूषण भी निकलेंगे वे भी भूषण हो जायँगे। यह हित होगा। (बै०) (ग) लोक और परलोक दोनोंमें हित होगा। खल निन्दा करेंगे तब सज्जन उनकी बातको झूठी करेंगे। सन्तोंका वाक्य प्रमाण है। अतः यह लोकहित होगा और परलोकमें हित यह होगा कि निन्दा करनेसे वे मेरे पापोंके भागी होंगे। खलोंके कथनको लोग ऐसा ही समझेंगे जैसे कौवे कोयलको कठोर कहें वैसे ही इनका हाल है। (पं०) (घ) गुप्त पापोंको प्रकट कर देनेसे उनका नाश हो जाता है, अतएव परिहासद्वारा मेरे अवगुणकथनसे मेरा लाभ होगा। कोयल कौवेके अण्डे गिराकर उसकी जगह अपने अण्डे रख देता है, कौवे उन्हें सेते

हैं। काक कोयलकी निन्दा करता है तो कोयलका पाप (अण्डा आदि गिरानेका) मिट जाता है और उसकी बोली सबको प्रिय लगती है। (बाबा हरिदासजी) महत्पुरुषोंकी एवं सद्ग्रन्थोंकी निन्दा करनेसे निन्दा करने और सुननेवालोंमें उसका पाप बट जाता है, यह हित होगा। (ङ) काक और कोकिलकी बोली सुनकर सभी पहचान लेते हैं। सज्जन कविताको सुनकर सुख पावेंगे और खल उसीको सुनकर हँसेंगे, इससे मेरी प्रतिष्ठा और भी बढ़ेगी। यदि सज्जन दुःख पाते और खल आदर करते तो कविता निन्दित होती। खल जिसपर हँसें वह सन्त समझा जाता है और जिसकी वे प्रशंसा करें वह खलका सम्बन्धी वा सजातीय अर्थात् नीच समझा जाता है। यही हित होगा। (रा० प्र०)

नोट—२ *'खलपरिहास'* दोष है। कवि उसमें गुण मानकर उसकी इच्छा कर रहा है। यहाँ 'अनुज्ञा अलङ्कार' है।

नोट—३ *'काक कहहिं कलकंठ कठोरा'* इति। (क) भाव यह है कि जैसे कौवेके निन्दा करनेसे कोई कोकिलको बुरा नहीं कहता, वैसे ही खलोंके हँसनेसे सज्जन इस रामचरितयुक्त कविताकी कदापि निन्दा न करेंगे। पुनः, (ख) आशय यह है कि रूपमें तो कौवा और कोकिल दोनों एक-से ही हैं। पर बोलीसे जाना जाता है कि यह काक है और यह कोकिल। '**काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः। प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः॥**' एवं जिसकी खल निन्दा करें वह सज्जन है……। (मा० पत्रिका)

हंसहि बक गादुर[१] चातकही। हंसहिं मलिन खल बिमल बतकही॥ २॥

शब्दार्थ—**गादुर**=चमगादड़। **चातक**=पपीहा। **मलिन**=मनके मैले।

अर्थ—बगुला हंसको और चमगादड़ पपीहेको हँसते हैं, (वैसे ही) मलिन स्वभाववाले दुष्टलोग निर्मल वाणीपर हँसते हैं॥ २॥

नोट—यहाँतक दो अर्धालियोंमें खलपरिहाससे अपना हित दिखाया।

पाठान्तर—श्रावणकुञ्जकी प्रतिमें *'गादुर'* का *'दादुर'* बनाया गया है। भागवतदासजीका भी *'गादुर'* पाठ है। काशीराजकी प्रतिमें भी 'गादुर' है। रामायणीजी और व्यासजी 'गादुर' पाठको शुद्ध और उत्तम मानते हैं। वन्दन पाठकजी, सुधाकर द्विवेदीजी और पं० रामकुमारजीने भी यही पाठ लिया है। वे कहते हैं कि दादुर जलचर है, चातक नभचर। दोनों ही मेघके स्नेही हैं, पर नभचरपर जलचरका हँसना कैसे बने? नभचरको नभचर हँसेगा, सजातीयका सजातीयको हँसना ठीक है। गादुर और चातक दोनों पक्षी हैं और दोनोंके गुणधर्म एक-दूसरेके विरुद्ध हैं।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ तीनों दृष्टान्त पक्षियोंके दिये गये क्योंकि ये पक्षपात करते हैं, ये सब पक्षपाती हैं। यथा—*'सठ सपच्छ तव हृदय बिसाला……।'*

पं० सच्चिदानन्दजी शर्मा, काशी—*'गादुर'* और *'दादुर'* इन दोनों पाठोंमें कौन-सा अधिक उपयुक्त और ग्राह्य है, इस सम्बन्धमें हमारा विचार *'गादुर'* के पक्षमें है। इसके कारण ये हैं। प्रथम तो यह प्रसङ्ग वाणीका है और कविलोग पक्षियोंमें ही प्रायः गानकी उत्प्रेक्षा करते हैं। दादुरकी गणना पक्षिकोटिमें होती भी नहीं। दूसरे कविने *'कूर'*, *'कुटिल'* तथा *'कुविचारी'* विशेषण क्रमसे दिये हैं। ये तीनों इसी क्रमसे काक, बक और गादुरमें चरितार्थ होते हैं। काककी क्रूरता और बककी कुटिलता लोकमें प्रसिद्ध है। रहा गादुर, सो स्वमलभोजी है। तीसरे काकका कोकिलसे, बकका हंससे और गादुरका चातकसे वर्णसाम्य भी है। इसी भाँति आकारगत सादृश्यका भी उल्लेख अप्रासङ्गिक नहीं होगा। चातक और गादुरके सादृश्यकी चतुर्थ बात यह है कि ये दोनों आकाशमें ही वास करते हैं। वृक्षपर उलटे टँगे रहना एक प्रकारसे शून्यवास

१-दादुर—१६६१में 'गादुर' था, 'ग' के ऊपर 'द' बनाया है। गादुर-१७०४, १७२१, १७६२, छ०।

ही है। इस प्रकार हेतुचतुष्टयसे गादुर पाठकी समीचीनता सप्रमाण सिद्ध है। पुनः, सीधा बैठनेमें असमर्थ होनेसे पिपासाशान्तिके लिये वर्षा-जलके अधीन रहना गादुरके बारेमें भी असम्भव नहीं, यह भी चातकके साथ पञ्चम सादृश्य है।

[नोट—चमगादड़के कुछ लक्षण ये हैं। यह भूमिपर अपने पैरोंसे चल नहीं सकता, या तो हवामें उड़ता रहता है या किसी पेड़की डालमें चिपटा रहता है। यद्यपि यह जन्तु हवामें बहुत ऊपरतक उड़ता है पर उसमें पक्षियोंके लक्षण नहीं हैं। इसकी बनावट चूहेकी-सी होती है, इसे कान होते हैं और यह अण्डा नहीं देता, बच्चा देता है। दिनके प्रकाशमें यह बाहर नहीं निकलता, किसी अँधेरे स्थानमें पैर ऊपर और सिर नीचे करके औंधा लटका रहता है।]

'दादुर' के पक्षमें कह सकते हैं कि वह और चातक दोनों मेघ और वर्षा-ऋतुकी प्रतीक्षा करते हैं और दोनों जलकी धारणा रखते हैं। परन्तु इनमेंसे पहला सामान्य जलसे सन्तुष्ट है, उसको जलकी स्वच्छता और मलिनताका विचार नहीं है। और दूसरा (चातक) एक विशिष्ट प्रकारके उत्तम जलका व्रत रखता है और उसमें उसकी दृढ़ धारणा और अनन्यता है।

पं० महावीरप्रसाद मालवीय लिखते हैं कि 'प्रसङ्गानुसार मेढक और चातककी समता यथार्थ प्रतीत होती है, क्योंकि वे दोनों मेघोंसे प्रेम रखनेवाले और वर्षाके आकांक्षी होते हैं। उनमें अन्तर यह है कि मेढक जलमात्रमें विहार करता हुआ सभी बादलोंसे प्रेम रखता है; किन्तु पपीहा स्वातीके बादल और जलसे प्रसन्न होता है। मेढक इसलिये हँसता है कि मेरे समान सब जलोंमें यह विहार नहीं करता, स्वातीके पीछे टेक पकड़कर नाहक प्राण गँवाता है। यह दृष्टान्तका भाव है। पर इस गम्भीरताको *'गादुर'* नहीं पहुँच सकता है।

श्रीजानकीशरणजी मालवीयजीसे सहमत होते हुए कहते हैं कि गादुरको पक्षी भी कहना ठीक नहीं है।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि *'दादुर'* और चातक दोनों मेघके स्नेही हैं तब हँसना कैसे बने? साहूकार चोरको और चोर साहूकारको हँसे तब बने (उचित हो)। और, चौपाईमें ऐसा ही पाठ-अर्थ है कि ***'हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही।'*** खलके स्थानपर गादुर है जो मलिन है और ***'बिमल बतकही'*** के स्थानपर ***'चातक'*** है।

नोट—१ ***'हंसहि बक'''''*'*** इति। भाव यह है कि—(क) जैसे बगुला और चमगादड़ (वा, मेढक) की निन्दासे हंस और चातक जगत्‌में अयोग्य नहीं कहे जाते, वैसे ही मलिनोंकी निन्दासे निर्मल वाणी अयोग्य नहीं कही जाती। अच्छे लोगोंमें इनकी प्रशंसा ही होती है। (द्विवेदीजी) (ख) यहाँ दृष्टान्त देकर दिखाया कि खल वचन, कर्म और मन तीनोंकी निन्दा करते हैं। काक कोकिलके 'वचन' को कठोर कहता है, बगुला हंसके क्षीर-नीर-विवरण-विवेकको हँसता है कि इसका यह 'कर्म' अच्छा नहीं है और गादुर चातककी टेकको हँसता है कि इसका 'मन' अच्छा नहीं है। टेक मनका धर्म है। (पं० रामकुमारजी)

पं० रामकुमारजी—१ (क) ***'बिमल बतकही'*** पदका भाव यह है कि ***'बतकही'*** बिमल (निर्मल, निर्दोष) है तो भी ये दूषण देते हैं।

(ख) ***'बिमल बतकही'*** इति। ***'बतकही'*** का अर्थ वाणी है। वाणीका प्रयोग धर्म-सम्बन्धहीमें करना चाहिये। इसी तरह ***'बतकही'*** शब्द श्रीरामचरितमानसमें सात ठौर गोस्वामीजीने दिया है और सातों स्थानोंपर धर्म-सम्बन्धी वार्ताके साथ इसका प्रयोग किया है।

इस ग्रन्थमें सप्त सोपान हैं और सात ही बार यह पद आया है; इस प्रकार प्रति सोपान एक बार हुआ। प्रथम सोपानमें दो बार आया, इससे दूसरे सोपानमें नहीं दिया गया। अरण्यकाण्डका प्रसङ्ग उत्तरकाण्ड सातवें सोपानमें दिया गया। चतुर्थ सोपानमें एक बार आया। पञ्चम सोपानमें नहीं आया, षष्ठ सोपानमें

दो बार आया है। यथा—(१) *'हंसहि बक गादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही॥'* (२) *'करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लुभान।'* (१। २३१) (३) *'दसकंधर मारीच बतकही'* (७। ६६) (यह प्रसङ्ग अरण्यकाण्डका है।) (४) *'एहि बिधि होत बतकही आये बानरजूथ।'* (४। २१) (५)*'तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि॥'* (६। १६) (६)*'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥''* (६। १७) (७)*'निज निज गृह गये आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥'* (७। ४७) सातों ठौर परमार्थसम्बन्धमें यह शब्द देकर उपदेश देते हैं कि वार्ता जब करो परमार्थसम्बन्धी करो; क्योंकि वही वाणी विमल है, उसी वाक्यकी सफलता है और सब वार्ता व्यर्थ है।

☞ जैसे इन सातों प्रसङ्गोंमें परमार्थ वा धर्मनीतिका ही विशिष्ट सम्बन्ध होनेसे *'बतकही'* शब्दका प्रयोग हुआ है, वैसे ही जहाँ ज्ञान और भक्तिका विशिष्ट सम्बन्ध होता है वहाँ उसको 'संवाद' कहा है।

नोट—२ पूर्व कहा था कि *'हसहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर दूषन भूषन धारी॥'* अब यहाँ उन चारोंका विवरण करते हैं। काक क्रूर है, बक कुटिल है, गादुर कुविचारी है और मलिन खल परदूषण-भूषणधारी है।

कबित रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहं सुखद हास रस एहू॥ ३॥
भाषा भनित भोरि मति मोरी[१]। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥ ४॥
प्रभु-पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी॥ ५॥
हरिहरपद-रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुं मधुर कथा रघुबर की॥ ६॥
रामभगति भूषित जिअ जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥ ७॥

अर्थ—जो कविताके रसिक हैं (परन्तु जिनका) श्रीरामचरणमें प्रेम नहीं है, उनको यह हास्यरस होकर सुख देगी॥ ३॥ (एक तो) भाषाका काव्य (उसपर भी) मेरी बुद्धि भोली[२] (इससे) हँसनेके योग्य ही है, हँसनेमें उनको दोष नहीं॥ ४॥ जिनकी प्रभुके चरणोंमें प्रीति नहीं है और न जिनकी समझ ही अच्छी है, उनको यह कथा सुननेमें फीकी लगेगी॥ ५॥ जिनकी हरिहरचरणकमलोंमें प्रीति है और बुद्धि कुतर्क करनेवाली नहीं है, उनको श्रीरघुनाथजीकी कथा मीठी लगेगी॥ ६॥ श्रीरामभक्तिसे भूषित है, ऐसा हृदयसे जानकर सज्जन इसे सुन्दर वाणीसे सराह-सराहकर सुनेंगे॥ ७॥

नोट—१ इन चौपाइयोंसे कविके लेखका आशय यह है कि सभी प्रकारके श्रोताओंको इस ग्रन्थसे कुछ-न-कुछ पात्रतानुसार, मनोरञ्जन और सुखकी सामग्री अवश्य मिलेगी। पहले खल-परिहाससे अपना हित कहकर अब तीन अर्धालियोंमें हँसनेवालोंका हित दिखाते हैं।

नोट—२ *'हँसिबे जोग'* इति। कवितरसिक हास्यरससे सुख पायें। इससे हास्यरसको पुष्ट करते हैं कि हँसने योग्य है। *'भाषा भनित'* का भाव यह है कि संस्कृत कविताके अभिमानी पण्डितलोग इस भाषा भणितिको क्यों पसन्द करेंगे, उनका हँसना उचित ही है।

१-पाठान्तर—'मोरी मति भोरी' (मा० प्र०, रा० प०, मा० प०)।

२-इस अर्धालीका भाव यह है कि मेरी कवितामें काव्यरस एक भी नहीं है और वे कविताके रसिक हैं, इस कारण वे देखकर हँसेंगे। इससे इसमें हास्यरस सिद्ध होगा। काव्यमें नौ रस होते हैं। उनमेंसे उन्हें एक भी न सूझेगा। (पं० रा० कु०, पाँड़ेजी) इस अर्थमें लोग यह शङ्का करते हैं कि इस ग्रन्थमें तो सब रस हैं। कवित्तरसिकोंको तो इसमें सभी रस मिलेंगे, तो फिर 'हास्यरस' क्योंकर होगा? इसलिये यहाँ देहली-दीपकन्यायसे 'न' का अन्वय 'कवित-रसिक' और 'राम पद नेह' दोनोंमें करके यों अर्थ करते हैं कि 'जो न तो कविताके रसिक हैं और न जिनका श्रीरामपदमें प्रेम ही है।'

श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि भगवद्यश चाहे भाषा हो, चाहे संस्कृत, उसको हँसनेसे दोष तो होता ही है। पर, गोस्वामीजी *'हँसे नहिं खोरी'* कहकर अपनी साधुतासे उन्हें भी निर्दोष करते हैं।

नोट—३ *'प्रभु-पद प्रीति न सामुझि नीकी'* इति। भाव यह है कि प्रभुपदमें प्रीति नहीं है, इसलिये उनको भक्तिके रसका सुख न मिला और समझ अच्छी नहीं है, इससे कविताका रस न मिला। अतएव फीकी है। 'समझ अच्छी नहीं' अर्थात् कुतर्कको प्राप्त है। [बैजनाथजीने दो अर्थ और दिये हैं। (क) श्रीरामपदमें प्रीति नहीं है, पर काव्याङ्गोंकी समझ अच्छी है अर्थात् जो रजोगुणी चतुर हैं उनको फीकी लगेगी। अथवा, (ख) प्रभुपदप्रीतिमें (क्या लाभ है इस विषयमें) जिनकी समझ अच्छी नहीं है अर्थात् हरिविमुखोंको फीकी लगेगी। (वै० रा० प्र०)]

नोट—४ *'हरिहरपद-रति मति न कुतरकी······'* इति। (क) हरि=विष्णुभगवान्। हर=शिवजी। करुणासिन्धुजी, पाँडेजी, हरिहरप्रसादजी इत्यादि कहते हैं कि *'मति न कुतरकी'* हरिहरके साथ है। अर्थात् हरि और हरमें जिनकी बुद्धि कुतर्कको नहीं प्राप्त है, जो दोनोंमें अभेद देखते हैं* भेदबुद्धि नहीं रखते, उनको यह कथा मधुर लगेगी। इससे ग्रन्थकारका यह आशय जाना जाता है कि जिस मनुष्यका प्रेम हरिहरपदमें अभेद और कुतर्करहित हो, उसीकी प्रीति श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें तथा उनकी कथामें होगी, क्योंकि श्रीरामजीको दोनों बराबर प्रिय हैं। (रा० प्र०)

(ख) *'मति न कुतरकी'* और *'हरिहरपद-रति'* को पृथक्-पृथक् दो बातें माननेसे उपर्युक्त भाव तो आ जाता ही है, साथ-ही-साथ चरितमें भी सन्देह, मोह इत्यादिका भाव सम्मिलित रहता है। *'कुतर्क'*—अवतार है तो *'खोजत सो कि अज्ञ इव नारी', 'खर्ब निसाचर बाँधेऊ नागपास सोइ राम'* इत्यादि कुतर्क हैं। यथा— *'अस बिचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल।'* (उ० ९०)

(ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि *'हरिहरपद-रति······'* से जनाया कि यह स्मार्तों वा पञ्चदेवोपासकोंको मधुर लगेगी; क्योंकि इसमें गणेशजीकी वन्दना, सूर्यवंशकी प्रशंसा, भवानी श्रोता, शिवजी वक्ता और भगवान्का यश ये सभी हैं। अथवा जो शैव हरिमें अभावादि तर्क नहीं करते वे इसे शिवचरित जानेंगे; क्योंकि प्रथम तो शिवचरित ही है और फिर शिव-पार्वती-संवाद ही तो अन्ततक है और ज़ो वैष्णव शिवमें तर्क नहीं करते अर्थात् शिवजीको श्रीरामजीका भक्त जान भेद-भाव नहीं रखते, उनको स्वाभाविक ही मधुर लगेगी।

(घ) कथा मधुर लगेगी क्योंकि भक्ति मधुर है। यथा—*'कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहि।'* (७। १२०) *प्रभुपद प्रीति······'* और *'हरिहरपद······'* दोनों अर्द्धालियोंका मिलान कीजिये।

१ प्रभुपद-प्रीति न २ न सामुझि नीकी ३ लागिहि फीकी

१ हरिहरपद-रति २ मति न कुतरकी ३ मधुर (लागिहि)

टिप्पणी—१ *'राम भगति भूषित जिअ जानी······'* इति। सन्त कवितविवेकसे भूषित जानकर नहीं सुनते। इनके हृदयमें भक्ति और हरिहरपदमें रति है, अतः जो कविता श्रीरामभक्तिसे भूषित होती है, उसीको सुनते हैं। *'सराहि सुबानी'* का भाव यह कि सज्जन सुनते जायँगे और सराहते भी जायँगे कि ओहो! क्या अच्छी सुन्दर वाणी है, क्योंकि रामभक्तिसे भूषित है। (पं० रामकुमारजी) *'राम भगति भूषित।'* यथा—*'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥ राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं॥'* (७। १२८-१२९) एवं, *'जेहिं महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥'* (७। ६१) तथा *'जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि रामचरित बर ताग। पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥'* (१। ११) और *'राम नाम अंकित जिय जानी।'*

---

* हरि-हरमें भेद वर्जित कैसे? इस तरह कि 'हरि' और 'हर' दोनोंका अक्षरार्थ एक ही है। दूसरे दोनों स्वरूपोंमें आभूषण और आयुधोंके भाव भी एक ही हैं। हरिकी गदा और शिवकी विभूति दोनों पृथिवीतत्त्व, हरिका पद्म और हरकी गङ्गा दोनों जलतत्त्व। इसी प्रकार सुदर्शन और भालनेत्र अग्नितत्त्व, पाञ्चजन्य और सर्प वायुतत्त्व, नन्दक और डमरू आकाशतत्त्व। भाव कि दोनों पञ्चतत्त्वोंके मालिक हैं। (रा० प०) २ हरिहरपदमें कुतर्करहित प्रीति।

टिप्पणी—२ यहाँ इस प्रसङ्गमें उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम चार प्रकारके श्रोताओंके लक्षण कहे गये हैं। उत्तम, यथा—'*राम भगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥*' मध्यम—'*हरिहरपद-रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की*'॥' निकृष्ट—'*प्रभुपद प्रीति न सामुझ नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी॥*' अधम—'*कबित रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हासरस एहू॥*'

टिप्पणी—३ इस प्रसंगमें यह दिखाया कि कथाके श्रवणके अधिकारी खल नहीं हैं, क्योंकि '*खल करिहहिं उपहास*'; कवि नहीं हैं; क्योंकि जो कवित्त-रसिक हैं '*तिन्ह कहँ सुखद हासरस एहू*' और न वे ही हैं जिनकी समझ अच्छी नहीं; क्योंकि '*तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी।*' इनके अधिकारी केवल सज्जन हैं। इसीसे बारम्बार सुजनको कहते हैं। यथा—*छमिहहिं सज्जन*', '*पैहहिं सुख सुनि सुजन*', '*सुनिहहिं सुजन सराहि*' और '*गिरा ग्राम्य सियरामजस गावहिं सुनहिं सुजान*', '*सादर सुनहु सुजन मन लाई*'।

कबि न होउँ नहिं बचन[1] प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥ ८॥

अर्थ—मैं न तो कवि ही हूँ और न बोलनेमें (अर्थात् शब्दोंकी योजना, वाक्यरचनामें) ही प्रवीण (कुशल, निपुण) हूँ। (मैं तो) सब कलाओं, सब विद्याओंसे रहित हूँ॥ ८॥

नोट—१ '*कबि*' इति। (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'कवि' वह है जो लक्षण और उदाहरण-सहित काव्यके अङ्गोंका वर्णन करे; जैसे मम्मटाचार्य-काव्यप्रकाश, भानुदेव-रसमञ्जरी, दामोदरमिश्र-वाणीभूषण। अथवा जो काव्यके लक्षण न कहकर केवल उदाहरणमें किसीका चरित वर्णन करते हैं, जिसमें उवाचादि किसीका संवाद नहीं रखते और उसीमें अलङ्कारादि काव्यके अङ्ग रहते हैं। जैसे वाल्मीकिजीने वाल्मीकीय रामायण और कालिदासजीने रघुवंशकाव्य रचे। (ख) कबि=काव्य करनेवाला। काव्य=वह वाक्यरचना जिसमें चित्त किसी रस वा मनोवेगसे पूर्ण हो, जिसमें शब्दोंके द्वारा कल्पना और मनोवेगोंपर प्रभाव डाला जाता है। (ग) विशेष अर्धाली ११में वे० भू० रा० कु० दासकी टिप्पणी देखिये।

नोट— २ '*बचन प्रबीनू*' इति। पाठान्तरपर विचार—'*चतुर प्रबीनू*' का अर्थ होगा 'चतुर और प्रवीण' अथवा 'चतुरोंमें प्रवीण'। चतुर=चमत्कृत बुद्धिवाला। ये दोनों पर्याय शब्द हैं, इससे पुनरुक्ति हो जाती है। पुन: श्रीरामकथा कहनेमें वा इस ग्रन्थके लिखनेमें वचनकी ही प्रवीणताकी आवश्यकता है। वचन-प्रवीण वह है जो अपने शब्दोंद्वारा श्रोताओंके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करे। यह आवश्यक नहीं है कि वह कवि भी हो। कवि तो वचनप्रवीण हो सकता है, पर प्रत्येक वचनप्रवीण कवि नहीं होता। अत: '*बचन*' पाठ उत्तम है और प्राचीनतम पाठ तो है ही।

नोट— ३ '*सकल कला*' इति। प्राय: टीकाकारोंने यहाँ '*सकल कला*' से 'चौंसठ कलाएँ' ही अर्थ लिया है। अर्थशास्त्र जो अथर्ववेदका उपवेद है वह भी बहुत प्रकारका है जैसे कि नीतिशास्त्र, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सूपकारशास्त्र और चतु:षष्टिकलाशास्त्र। ये चौंसठों कलाएँ शैवागममें यों कही गयी हैं। १ गीत (गान), २ वाद्य (बाजा बजाना), ३ नृत्य (नाचना), ४ नाट्य (अभिनय करना), ५ आलेख्य (चित्रकारी करना), ६ विशेषकच्छेद्य (गोदना; टिकुली आदि तिलक बनाना), ७ तण्डुलकुसुमावलिविकार (तण्डुलकुसुमसे चौक पूरना, साँझी बनाना), ८ पुष्पास्तरण (पुष्पशय्या रचना), ९ दशनवसनाङ्गराग (दाँतों, वस्त्रों और अङ्गोंमें राग अर्थात् मिस्सी लगाना, कपड़े रँगना, अङ्गमें उबटन लगाना), १० मणिभूमिकाकर्म (मणियोंसे भूमि रचना), ११ शयनरचना (सेजकी रचना करना), १२ उदकवाद्य (जलतरङ्ग बाजा बजाना), १३ उदकघात (हाथ या पिचकारीसे जलक्रीड़ा करना), १४ अद्भुतदर्शनवेदिता (बहुरूपियाका काम करना), १५ मालागथन-कल्प (माला गूँथना) १६ शेखरापीडयोजन (मस्तकके भूषणोंकी योजना करना), १७ नेपथ्ययोग (नाटकके पात्रोंका वेष सजाना), १८ कर्णपत्रभङ्ग (कर्णभूषण-विधान), १९ गन्धयुक्ति (अतर आदि सुगन्ध

१ चतुर—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, को० रा० रा० प०। बचन—१६६१। श्रीशम्भुनारायणजी लिखते हैं कि १७०४ में भी 'बचन' है। परन्तु रा० प० में 'चतुर' पाठ मूलमें है और 'बचन' को पाठान्तर कहा है।

द्रव्योंकी युक्ति), २० भूषणकी योजना, २१ इन्द्रजाल, २२ कौचुमारयोग (कुरूपको सुरूप बनानेकी क्रिया जानना), २३ हस्तलाघव (पटा, वाना आदिमें फुर्ती), २४ चित्रशाकपूप भक्ष्य विकारक्रिया (चित्र-विचित्र भोजनके पदार्थ बनाना), २५ पानकरसरागासवयोजन (पीनेके पदार्थ रस आदिका बनाना), २६ सूचीवापकर्म (सुईकी कारीगरी, सीना, काढ़ना आदि), २७ सूत्रक्रीड़ा (धागेके सहारे खिलौनोंका खेल करना, जैसे चकई आदिका नचाना), २८ वीणाडमरूवाद्य, २९ प्रहेलिकाप्रतिमाला (पहेली बुझाना, अन्त्याक्षरीसे वैदबाजी करना), ३० दुर्वाचकयोग (कठिन शब्दोंका अर्थ लगाना), ३१ पुस्तकवाचन, ३२ नाटिकाख्यायिकादर्शन (लीला या नाटक दिखाना), ३३ काव्यसमस्यापूरण, ३४ पट्टिकावेत्र बाणविकल्प (नेवाड़, बेत या मूँज आदिकी अनेक रचनाएँ करना), ३५ तर्ककर्म (तर्क करके काम करना), ३६ तक्षण (लकड़ी, पत्थर आदिको गढ़कर बेल-बूटे-मूर्ति आदि बनानेका काम), ३७ वास्तुविद्या (सब वस्तुओंका ज्ञान), ३८ रूप्य-रत्न-परीक्षा (चाँदी-सोना-रत्नकी परीक्षा), ३९ धातुवाद (धातुओंके शोधनेका ज्ञान), ४० मणिरागज्ञान (रत्नोंके रङ्गोंको जानना), ४१ आकरज्ञान (खानोंका ज्ञान), ४२ वृक्षायुर्वेद (वृक्षोंके स्वरूप, आयु आदिका जानना), ४३ मेषकुक्कुट-लावकयुद्धविधि (मेढ़ों, मुर्गों और तीतरोंकी लड़ाईका विधान), ४४ शुकसारिकाप्रलापन, ४५ उत्सादन (मालिश करना, अङ्गको दबाना आदि), ४६ केशमार्जनकौशल, ४७ अक्षरमुष्टिकाकथन (करपल्लवी अर्थात् हस्तमुद्राद्वारा बातें कर लेना), ४८ म्लेच्छितकविकल्प (जिस काव्यमें शब्द तो साधारण होते हैं पर अर्थ निकालना कठिन है ऐसे क्लिष्ट काव्यको समझ लेना), ४९ देशभाषाज्ञान (सब देशोंकी भाषा जानना), ५० पुष्पशकटिका-निमित्त ज्ञान (दैवी लक्षणोंसे शुभाशुभका ज्ञान), ५१ यन्त्रमातृका (कठपुतली नचाना), ५२ धारणमातृका (धारणशक्ति और वचनप्रवीणता), ५३ असंवाच्यसंपाठ्य मानसी काव्यक्रिया (जो कहने और पढ़नेमें कठिन हो ऐसा काव्य मनमें करना), ५४ छलितकयोग (छल या ऐयारीका काम करना), ५५ अभिधानकोशच्छन्दोज्ञान (कोश और छन्दोंका ज्ञान), ५६ क्रियाविकल्प (प्रसिद्ध उपायके बिना दूसरे उपायसे किसी कार्यको सिद्ध करना), ५७ ललित-विकल्प, ५८ वस्त्रगोपन (वस्त्रोंकी रक्षाकी विद्या जानना), ५९ द्यूतविशेष (घुड़दौड़ आदि खेलोंकी बाजीमें निपुणता), ६० आकर्षक्रीड़ा (पाँसा आदिके फेंकनेका ज्ञान), ६१ बालक्रीडनक (लड़कोंको खिलाना, खिलौने बनाना), ६२ बैनायिकी विद्याज्ञान (विजय करनेकी विद्या), ६३ वैजयिक विद्याज्ञान (विजय करनेकी विद्याका ज्ञान), ६४ वैतालिकी विद्याज्ञान (वेताल-प्रेतादिकी सिद्धिकी विद्याका ज्ञान)।

बाबा हरीदासजीका मत है कि यहाँ 'कला' से सूर्यादि देवताओंकी कलाएँ या उपर्युक्त चौंसठ कलाएँ अथवा नटकी कलाएँ अभिप्रेत नहीं हैं वरं च 'कला' का अर्थ 'करतब' (कर्त्तव्य) है। यथा—***'सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत।'*** (१। ८६)***'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी।'*** (१। १२६) (हमारी समझमें भी यहाँ ***'कला'*** से 'काव्यकौशल' ही अभिप्रेत है, चौंसठ कलाका यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। 'गीतवाद्यमें निपुणता' अर्थ ले सकते हैं क्योंकि कविको इनका प्रयोजन है। टीकाकारोंने यहाँ चौंसठ कलाएँ मानी हैं, अतः हमने प्रामाणिक ग्रन्थोंसे खोजकर लिखा है।)

नोट— ४ ***'सब बिद्या'*** इति। विद्याएँ प्रायः चौदह मानी जाती हैं। यथा— **'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥'** (३) (याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात प्रकरण १) अर्थात् ब्रह्म आदि अठारह पुराण, तर्कविद्यारूप न्याय, मीमांसा (वेदवाक्यका विचार), धर्मशास्त्र (मनुस्मृति आदि), वेदके छः अङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द) और चारों वेद—ये मिलकर १४ विद्याएँ हैं।

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥ ९॥

अर्थ—अक्षर, अर्थ, अनेक प्रकारके अलङ्कार, (और उनसे) अनेक प्रकारकी छन्द-रचनाएँ॥ ९॥

नोट— १ *'आखर अरथ.....'* इति। (क) काव्यरचनामें किन-किन बातोंकी आवश्यकता होती है; यह यहाँ कहते हैं। *'आखर'* का अर्थ अक्षर है। अर्थात् ऐसे अक्षरोंका प्रयोग करना चाहिये जिनसे कुछ अर्थ निकलें, क्योंकि अर्थ शब्दवाच्य होते हैं। शब्दका अर्थसे वाचक-वाच्य-सम्बन्ध रहता है। इसलिये इसीके आगे अर्थ-पद लिखा है। *'अलंकृति'* से अलङ्कारका ग्रहण है; क्योंकि शब्दार्थमें अलङ्कार होता है। अलङ्कार वह विषय है कि जो शब्दार्थकी शोभा बढ़ानेवाले रसादिक हैं, उनकी शोभा बढ़ावे। जैसे मनुष्यकी शोभा सुन्दर आभूषणोंसे होती है, एवं शब्दार्थकी शोभा अलङ्कारसे होती है। यथा—साहित्यदर्पण '**शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः। रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्॥**' शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार-भेदसे प्रथम दो भेद, फिर इन्हीं दोनोंसे अनेक भेद हुए हैं। (किसी-किसीने अलङ्कार १०८ माने हैं और फिर इन्हीं १०८ के बहुत-से भेद बताये हैं।) अतः *'अलंकृति नाना'* कहा। *'छंद'* से गायत्री-अनुष्टुपादि छन्दोंका ग्रहण है। इनका वर्णन पिङ्गलमें है। *'प्रबंध'* शब्दका अर्थ वाक्यविस्तार है। अर्थात् 'वाक्योंसे महाकाव्यादिकोंको बनाना' है। [छन्द ९२२७४६२ हैं (केवल मात्रा-प्रस्तारमें); और इससे कुछ अधिक वर्ण-प्रस्तारमें हैं (करु०)] (सू० प्र० मिश्र) मं० श्लोक १ में '**वर्णानाम्**', '**अर्थसंघानाम्**' और '**छन्दसाम्**' भी देखिये'।

(ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि वर्णोंमें सत्रह वर्ण (ङ, ज, झ, ट, ठ, ढ, ण, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, ष) अशुभ हैं। ये दग्धाक्षर कहलाते हैं। कवित्तमें इनको देनेसे अशुभ फल प्राप्त होता है, ऐसा रुद्रयामलमें कहा है। पुनः वर्णमैत्री; जैसे कि कवर्ग, अ और ह कण्ठसे; चवर्ग, इ, य और श तालुसे; टवर्ग, ऋ, र, ष मूर्द्धासे; तवर्ग, लृ, ल, स दन्तसे और पवर्ग और उ ओष्ठसे उच्चारण होते हैं। इनमें भी ऊर्ध्ववर्गवर्ण नीचे वर्णसे मित्रता रखते हैं, पर नीचेवाले वर्ण ऊपरवालोंसे नहीं मिलते। इत्यादि विचार *'आखर'* शब्दसे जनाया। अर्थ तीन प्रकारका है। वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। **वाचक**= जो सुनते ही जाना जाय। **लक्षक**=मुख्य अर्थ छोड़कर जो लक्षित अर्थ कहे। **व्यञ्जक**=जो शब्दार्थसे अधिक अर्थ दे। वाचक चार प्रकारका है। जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। लक्षक दो प्रकारका है, रूढ़ि और लक्षणा-प्रयोजनवती। व्यञ्जकके भेद—अभिधामूल और लक्षणामूल। [फिर इन सबोंके भी अनेक भेद हैं। काव्यके ग्रन्थोंमें मिलेंगे। बैजनाथजीकी टीकामें भी हैं।]

(ग) श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीका मत है कि *'आखर'* से अक्षरोंके पैदा होनेकी युक्ति, 'अर्थ' से 'अर्थ कैसे शब्दोंमें आये'। 'शब्दब्रह्म शाब्दिक शिक्षादि श्रीभगवान्-नारद-पाणिन्यादि मतसे माने, जैसे अकार कण्ठसे निकला तद्रूप और भी ऐसे ही अपने स्थानवत् अर्थ कैसे शब्दोंमें आये; श्रीभगवान् गौतम और कणादने जैसे षोडशपदार्थ, षट्पदार्थ लिखे।' (रा० प०, रा० प० प०। ठीक समझमें नहीं आया, अतः वही शब्द उतार दिये हैं।)

(घ) *'अलंकृति नाना। छंद ......'* इति। अलंकृति और छन्दके साथ *'नाना.....'* और आगे *'भाव भेद रसभेद'* के साथ *'अपारा'* कहा। कारण कि अलङ्कारोंमें सीमाबद्ध होते हुए भी मतभेद है। अलंकार-निर्णायकोंमें भरत मुनिके नाट्यशास्त्रसे प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन्होंने उपमा, दीपक, रूपक और यमक यही चार अलङ्कार माने हैं। इनके पश्चात् काव्यालङ्कारमें रुद्रटने तिहत्तर, काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्तिमें एकतीस, सरस्वती कण्ठाभरणमें भोजराजने शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कारके २४-२४ भेद मानकर बहत्तर, काव्यप्रकाशमें मम्मटने सरसठ, काव्यादर्शमें दण्डीने अड़तीस, बागभट्टने उन्तालीस, चन्द्रालोकमें पीयूषवर्षी जयदेवने एक सौ चार, साहित्यदर्पणमें विश्वनाथने चौरासी, अलङ्कारशेखरमें केशव मिश्रने बाईस और कविप्रियाके केशवदासने केवल सामान्य और विशिष्ट दो भेद मानकर दोनोंके क्रमशः तैंतालिस और छत्तीस उपभेद मानकर कुल अस्सी भेद माने हैं। उपर्युक्त ग्यारह अलङ्काराचार्योंमेंसे दोनों केशव-गोस्वामीजीके समकालीन हैं। अबतक लोग एकमत नहीं हैं। अतः गोस्वामीजीने 'नाना' आदि विशेषणोंसे सब मतोंकी रक्षा की। (वे० भू० रा० कु० दा०)

(ङ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'नागसूत्रमें छियानबे करोड़ जाति छन्दोंकी कही हैं और तैंतीस करोड़ प्रबन्धके भेद हैं। बत्तीस मात्रा तथा बत्तीस अक्षरके आगे जो मात्रा और अक्षर बढ़ता जाय, उसको दण्डक कहते हैं। प्रबन्ध इसीका नाम है। पुनः, बहुत छन्दोंको एक जगह करना और बहुत अर्थको थोड़े अक्षरोंमें रखे, इसको भी प्रबन्ध कहते हैं।'

भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥ १०॥

अर्थ—भावों और रसोंके अपार (अगणित) भेद और अनेक प्रकारके दोष और गुण काव्यके होते हैं॥ १०॥

नोट— १ (क) *'भावभेद'* इति। रसके दूसरे उल्लसित एवं चमत्कृत, विकास तथा परिणामको *'भाव'* कहते हैं। *भाव*=मनके तरङ्ग। अमरकोषमें कहा है **'विकारो मानसो भावः।'** (१। ७। २१) रसके अनुकूल मनमें जो विकार उत्पन्न होते हैं उनको *'भाव'* कहते हैं। यथा—*'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥'* (१। २३०) में ध्वनि सुननेसे शृङ्गार-रसके अनुकूल विकार उपजा। भाव चार हैं।

भाव

विभाव	अनुभाव	स्थायी	संचारी
=भावके कारण। जिसके सहारे मनोविकार वृद्धिलाभ करते हैं, उस कारणको विभाव कहते हैं। आलम्बन =जिसके आधारसे वा जिसके प्रति आश्रय या पात्रके हृदयमें विकार उत्पन्न हो। जैसे नायकके लिये नायिका यह रसका अवलम्ब है। उद्दीपन =जिससे आलम्बनके प्रति स्थित भाव उद्दीप्त या उत्तेजित हो। जैसे चाँदनी, निर्जन वन, वसन्त ऋतु, मारू बाजे। जिनके देखने-सुननेसे रस प्रकट हो।	=मनोविकारकी उत्पत्तिके अनन्तर वे गुण और क्रियाएँ जिनसे रसका बोध हो=चित्तके भावको प्रकाश करनेवाली कटाक्ष, रोमाञ्च आदि चेष्टाएँ। अनुभाव चार हैं। सात्त्विक (आठ प्रकारकी है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय)। २ कायिक। ३ मानसिक (=मनकी अवस्था प्रकट करना) ४ अहार्य=रूप बदलकर अभिनयद्वारा भाव प्रदर्शित करना।	=वे भाव जो वासनात्मक होते हैं, चित्तमें चिरकालतक स्थित रहते हैं। ये विभावादिके योगसे परिपुष्ट होकर रसरूप होते हैं। ये सजातीय या विजातीय भावोंके योगसे नष्ट नहीं होते, वरं च उनको अपनेमें लीन कर लेते हैं—ये नौ माने गये हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद।	=जो रसको विशेषरूपसे पुष्टकर जलकी तरङ्गोंकी तरह उनमें संचरण करते हैं। ये रसकी सिद्धितक नहीं ठहरते। ये तैंतीस माने गये हैं। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, मति, विषाद, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, गर्व, आमर्ष, स्मृति, हर्ष, उत्सुकता, अवहित्थ, दीनता, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जडता, चपलता और वितर्क।

(ख) *'रस भेद'* इति। विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंकी सहायतासे जब स्थायी भाव उत्कट अवस्थाको प्राप्त हो मनुष्यके मनमें अनिर्वचनीय आनन्दको उपजाता है तब उसे 'रस' कहते हैं। वे नव हैं, सो यों कि (१) रतिसे शृङ्गार, (२) हाससे हास्य, (३) शोकसे करुण, (४) क्रोधसे रौद्र (५) उत्साहसे वीर, (६) भयसे भयानक, (७) जुगुप्सासे बीभत्स, (८) विस्मयसे अद्भुत और (९) निर्वेदसे शान्त रस होते हैं। (वि० टी० से उद्धृत)

नव रसोंका कोष्ठक (वि० टी०)

संख्या	रस	स्थायी भाव	आलम्बन विभाव	उद्दीपन विभाव	अनुभाव	संचारी भाव	उदाहरण
१	शृङ्गार	रति	नायक-नायिका	सखा, सखी, बन, बाग-विहार	मुसकाना, हाव-भाव आदि	उन्मादिक	सीतहि पहिराये प्रभु सादर।
२	हास्य	हास	विचित्र आकृति-वेश आदि	कूदना, ताली देना आदि	अनोखी रीतिसे हँसना	हर्ष-चपलता आदि	बर अनुहार बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥
३	करुण	शोक	प्रियका वियोग	प्यारेके गुण, श्रवण, उसकी वस्तुओंका दर्शन आदि	रोना, विलाप करना, मस्तक आदि ताड़ना, अश्रुपात	मोह,चिन्ता, जडता, अप-स्मार आदि	पति सिर देखत मंदोदरी। मूर्च्छित बिकल धरनि खस परी॥
४	रौद्र	क्रोध	शत्रु	शत्रुकी वार्ता वा उसके वचन आदि	भौंहें चढ़ाना, ओंठ चबाना, दाँत पीसना आदि	गर्व-चपलता-मोह आदि	माखे लषन कुटिल भइ भौंहें। रदपुट फरकत नयन रिसौंहें॥
५	वीर	उत्साह	रिपुका विभव	मारू बाजा, सैन्यका कोलाहल	सेनाका अनुधावन, हथियारोंका उठाना	गर्व-असूया	सुनि सेवक दुख दीन दयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला॥
६	भयानक	भय	भयानक दर्शन	घोर कर्म	कँपना, गात्र-संकोच आदि	वैवर्ण्य गद्गद आदि	हाहाकार करत सुर भागे।
७	बीभत्स	जुगुप्सा ग्लानि	रक्त, मांस-आदि	रक्त-मांस कृमि पीब आदि-दर्शन	नाक मूँदना, मुख-परिवर्तन और थूकना आदि	मोह-मूर्च्छा, असूया	धरि गाल फारहिं उर बिदारहि गल अँतावरि मेलहीं।
८	अद्भुत	विस्मय आश्चर्य	आश्चर्यके पदार्थ, वार्ता	अलौकिक गुणोंकी महिमा	रोमाञ्च, कम्प गद्गद वाणीका रुकना	वितर्क-मोह-निर्वेद	जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहि सिद्ध मुनीस प्रबीना॥
९	शान्त	निर्वेद [शम]	सत्सङ्गति, गुरुसेवा	पवित्र आश्रम-तीर्थ-स्थान आदि	रोमाञ्च आदि	मति, धृति हर्षभूत दया	द्वादस अक्षर मंत्र बर जपहिं सहित अनुराग। बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥

नोट—२ '*कबित दोष गुन बिबिध*......' इति। (क) उपर्युक्त भावभेद, रसभेद आदि सब कवितामें होते हैं। यदि ये ज्यों-के-त्यों रहें तो 'उत्तम काव्य' कहा जाता है और यही काव्यके 'गुण' हैं। यदि इनमेंसे कुछ न रहें तो वही 'दोष' कहलाता है। 'गुण' तीन प्रकारके हैं। (१) माधुर्य—जिसके सुननेसे मन द्रवीभूत हो। यथा—'*नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥*' (२। ६३) (२) ओज—जिसकी रचनासे मन उत्तेजित हो। प्रत्येक वर्गके दूसरे और चौथे वर्ण, टवर्ग जिसमें हों। यथा—'*कटकटहिं जंबुक*......'। (३) प्रसाद—जहाँ शीघ्र अर्थ जान लें, अक्षर रुचिकर हों। यथा—'*ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार। केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार॥*' (७। ७०) (ख) '*दोष*' इति। पीयूषवर्षी जयदेवजीने अपने 'चन्द्रालोक' में लिखा है कि काव्यके दोष सैंतीस प्रकारके हैं, जिनके अनेक भेद हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरणमें लिखा है कि जो काव्य निर्दोष, गुणोंसे युक्त, अलङ्कारोंसे अलङ्कृत और रसान्वित होता है ऐसे काव्यसे कवि कीर्ति और आनन्दको प्राप्त होता है। यथा—'**निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।**'(१। २) दोष तीन प्रकारके हैं। पददोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष। इन तीनोंके सोलह भेद हैं। इन दोषोंको काव्यमें वर्जित करना चाहिये। यथा—'**दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश। हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्ये तानेवादौ प्रचक्ष्महे।।**' (१। ३)

'*दोष*' इति। १ असाधु (शब्दशास्त्रके विरुद्ध), २ अप्रयुक्त (कवि जिसका प्रयोग नहीं करते), ३ कष्ट (कर्णकटु), ४ अनर्थक (पादपूर्तिके लिये *तु, हि, च, स्म, ह, वै* आदिका प्रयोग), ५ अन्यार्थक (रूढ़िसे च्युत), ६ अपुष्टार्थ (तुच्छ अर्थवाला), ७ असमर्थ (असङ्गत), ८ अप्रतीत (एक शास्त्रमें ही प्रसिद्ध), ९क्लिष्ट, १० गूढ़, ११ नेयार्थ (रूढ़ि और प्रयोजनके बिना लक्षणावृत्तिसे बोद्धव्य), १२ संदिग्ध, १३ विपरीत, १४ अप्रयोजक (जिनका प्रयोजन कुछ नहीं हो), १५ देश्य (जो व्युत्पत्तिसे सिद्ध नहीं हैं, केवल व्यवहारमें प्रयुक्त होते हैं) और १६ ग्राम्य (अश्लील, अमङ्गल और घृणावाले)। ये पदके दोष हैं। यथा—'**असाधु चाप्रयुक्तं च कष्टं चानर्थकं च यत्। अन्यार्थकमपुष्टार्थमसमर्थं तथैव च॥ अप्रतीतमर्थक्लिष्टं गूढं नेयार्थमेव च। संदिग्धं च विरुद्धं च प्रोक्तं यच्चाप्रयोजकम्॥ देश्यं ग्राम्यमिति स्पष्टा दोषाः स्युः पदसंश्रयाः॥**' (परिच्छेद १। ४—६)

इसी तरह वाक्यदोष ये हैं। १ शब्दहीन (अपशब्दोंका प्रयोग), २ क्रमभ्रष्ट (जिसमें शब्द या अर्थके क्रमका भङ्ग हुआ हो), ३ विसन्धि (सन्धिसे रहित), ४ पुनरुक्तिमत, ५व्याकीर्ण (विभक्तियोंकी असङ्गति), ६ वाक्यसंकीर्ण (अन्य वाक्योंसे मिश्रित), ७ अपद (छः प्रकारके जो पद हैं उनका अयुक्त सम्मिश्रण), ८ वाक्यगर्भित (जिसमें गर्भित आशय भी प्रकट कर दिया जाता है), ९ भिन्न लिङ्ग (जिसमें उपमान और उपमेय भिन्न लिङ्गके हों), १० भिन्नवचन (उपमान, उपमेय भिन्न-भिन्न वचनके हों), ११ न्यूनोपम (उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा न्यूनता), १२ अधिकोपम (उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा अधिकता), १३ भग्नछन्द (छन्दोभङ्ग), १४ भग्नयति (अयुक्त स्थानपर विराम होना), १५ अशरीर (जिसमें क्रिया न हो) और १६ अरीतिमत (रीतिविरुद्ध)। यथा—'**शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसन्धि पुनरुक्तिमत्। व्याकीर्णं वाक्यसंकीर्णमपदं वाक्यगर्भितम्॥**' '**द्वे भिन्नलिङ्गवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमे। भग्नच्छन्दोयती च द्वे अशरीरमरीतिमत्॥**' '**वाक्यस्यैते महादोषाः षोडशैव प्रकीर्तिताः।**' (१८—२०) वाक्यार्थ दोष ये हैं। १ अपार्थ (पूरे वाक्यका कोई तात्पर्य न निकलना), २ व्यर्थ (जिनका तात्पर्य पूर्व आ गया है), ३ एकार्थ (जो अर्थ पूर्व आ चुका वही फिरसे आना), ४ ससंशय (संदिग्ध), ५ अपक्रम (क्रमरहित वर्णन), ६ खिन्न (वर्णनीय विषयके तथोचित निर्वाह करनेमें असमर्थ); ७ अतिमात्र (असम्भव बातका कथन), ८ परुष (कठोर), ९ विरस, १० हीनोपम (उपमाकी लघुता), ११ अधिकोपम (बहुत बड़ी उपमा दे देना), १२ असदृक्षोपम (जिसमें उपमामें सादृश्य नहीं है), १३ अप्रसिद्धोपम, १४ निरलंकार, १५ अश्लील और १६ विरुद्ध। यथा—'**अपार्थं व्यर्थमेवार्थं ससंशयमपक्रमम् । खिन्नं चैवातिमात्रं च परुषं विरसं तथा॥**' **हीनोपमं भवेच्चान्यदधिकोपममेव च। असदृक्षोपमं चान्यदप्रसिद्धोपमं तथा॥**' **निरलंकारमश्लीलं विरुद्धमिति षोडश। उक्ता वाक्यार्थजा दोषाः**""॥' (परिच्छेद १। ४४—४६)

'*गुण*' इति। उसी ग्रन्थमें कहा है कि अलङ्कारयुक्त काव्य भी यदि गुणरहित हो तो सुननेयोग्य नहीं होता। गुण तीन प्रकारके हैं। बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। शब्दगुणको 'बाह्य', अर्थके आश्रित गुणको 'आभ्यन्तर' और दोष होनेपर भी जो कारणवश गुण मान लिये जाते हैं उनको 'वैशेषिक' कहते हैं। शब्दगुण चौबीस हैं। १ श्लेष, २ प्रसाद, ३ समता, ४ माधुर्य, ५ सुकुमारता, ६ अर्थव्यक्ति, ७ कान्ति, ८ उदारत्व, ९ उदात्तता, १० ओज, ११और्जित्य, १२ प्रेय, १३ सुशब्दता, १४ समाधि, १५ सौक्ष्म्य, १६ गाम्भीर्य, १७ विस्तर, १८ संक्षेप, १९ संमितत्व, २० भाविक, २१ गति, २२ रीति, २३ उक्ति और २४ प्रौढ़। ये ही वाक्यके गुण हैं और ये ही वाक्यार्थके भी गुण हैं। परन्तु वाक्यार्थगुणोंकी व्याख्या

भिन्न है। यथा—'**श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥ ओजस्तथान्य-दौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता। तद्वत्समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः॥ संक्षेपः संमितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा। रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषां लक्ष्यलक्षणे॥** (६३—६५॥

काव्यालङ्कारसूत्रकर्त्ता श्रीवामनजी दस गुण मानते हैं। यथा—'**ओजः प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्य-सौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः।**' (अधिकरण ३, अ० १, सूत्र ४) भट्टभामह माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण मानते हैं। उनके पश्चात् मम्मटाचार्यादिने उन्हींका अनुकरण किया है। यथा— '**माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।**' (काव्यप्रकाश ८। ८९)

इन सबोंका संग्रह सरस्वतीतीर्थजीने एक श्लोकमें कर दिया है। यथा—'**राजा भोजो गुणानाह विंशतिश्चतुरश्चयान्। वामनो दशतान्वाग्मी भट्टस्त्रीनेव भामहः॥**' अर्थात् राजाभोज २४, वामन १० और भामह ३ ही गुण कहते हैं। (पं० रूपनारायणजी)

कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहौं लिखि कागद[1] कोरें॥ ११॥

अर्थ—(इनमेंसे) काव्यसम्बन्धी एक भी ज्ञान मुझे नहीं है (यह) मैं कोरे कागजपर लिखकर सत्य कहता हूँ॥ ११॥'*

नोट—१ (क) यहाँ गोस्वामीजी अपना कार्पण्य (लघुता, दीनता) दर्शित करते हैं। वे सब गुणोंसे पूर्ण होते हुए भी ऐसा कह रहे हैं। विनम्रताकी इनसे हद है। यह दीनता कार्पण्यशरणागतिका लक्षण है; जैसे श्रीहनुमान्‌जीने शपथ की थी कि *'तापर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥'* (४। ३) (ख) *'लिखि कागद कोरे'* इति। सफेद कागजपर स्याही लगाना यह एक प्रकारकी शपथ है। ऐसा कहकर कहनेवाला अपने हृदयकी निष्कपटता दर्शित करता है। (वि० टी०)

नोट—२ *'कबित बिबेक एक नहिं······सत्य कहौं लिखि कागद कोरें'* इति। यहाँ महानुभावोंने यह शङ्का उठाकर कि 'यह काव्य तो सर्वाङ्गपूर्ण है। यह शपथ कैसी?' उसका समाधान अनेक प्रकारसे किया है। (१) '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**' (तैत्ति० २। ४९) *'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'* (१। ३४१) मन-वाणीसे अगोचरके चरित-वर्णनका दुःसाहस करनेवाला सर्वोत्तम कलावान् और कविपूर्ण सत्यतापूर्वक ही यह कहता है कि मुझमें कवित्व वा शब्दचित्र खींचनेका

---

१ कागर—१७२१, १७६२, छ०। शम्भुनारायण चौबेजी लिखते हैं कि १७०४ में भी 'कागर' है। (परन्तु रा० प० में 'कागद' पाठ ही मूलमें है।) कागद—१६६१में 'कागर' था। 'र' पर हरताल देकर हाशियेपर 'द' बनाया है। यह 'द' उतना ही बड़ा और वैसा ही है जैसा 'गादुर' को 'दादुर' बनाते समय बनाया गया है। कोदोरामने भी यही पाठ दिया है। मा० प्र० और ना० प्र० ने 'कागज' पाठ दिया है। 'कागद' शब्दका प्रयोग प्रान्तिक है, कागजके अर्थमें बोला जाता है। 'कागर' गुजरातकी बोली है। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त हुआ है। कागजके अर्थमें सूरदासजीने भी इसका प्रयोग किया है। यथा—'तुम्हरे देश कागर मसि खूटी। भूख प्यास अरु नींद गई सब हरिके बिना बिरह तन टूटी॥'

* अर्थान्तर— (२) (श्रीरघुनाथजीको छोड़कर) अन्यकी कविताका विवेक मुझे नहीं है। यहाँ एक=अन्य। (रा० प्र०) (३) श्रीरघुनाथचरित बनानेयोग्य विवेक एक भी नहीं है। यथा—कहँ रघुपतिके चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥' (रा० प्र०) (४) 'कवित-विवेक एक नहीं है, अनेक है। पर मुझे उनकी वासना नहीं है, केवल रामचरितमें वासना है।' (रा० प्र०) (५) 'सत्य जो श्रीसीतारामजी उनका यश कोरे कागजपर लिखता हूँ'। (रा० प्र०) (६) श्रीरामजीके स्वरूपका विवेक मुझे नहीं है। (पं०) (७) 'काव्यके नायक श्रीरामजीके गुणगणोंका पूर्ण ज्ञाता होना' कविताका यह एक विवेक मुझे नहीं है और सब हैं। (८) कविताके अङ्गोंपर मेरी दृष्टि नहीं है। (मा० म०) (९) एक भी कवित्त-विवेक ऐसा नहीं है जो इसमेंसे मोड़े (फेरे या लौटाये) गये हों अर्थात् सभी इसमें हैं। मोरे=मोड़े, गये=विमुख। (किसीने ऐसा अर्थ किया है)।

रत्तीभर भी विवेक नहीं है। साधारणतया संसारके लिये तो गोसाईंजी अप्रतिम विद्वान् हैं यह बात वेणीमाधवजी लिखित मूल गुसाईंचरितसे पूर्णतया सिद्ध है। परन्तु *'कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥'*, *'महिमा तासु कहइ किमि तुलसी।' 'मति गति बाल बचन की नाईं' 'मुनि मति तीर ठाढ़ि अबला सी। गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥'* इत्यादि जो श्रीभरतजीकी भक्ति और महिमाके सम्बन्धमें सरस्वती एवं वसिष्ठजीकी मतिकी दशा दिखायी गयी है, वही अकथनीय दशा हमारे प्रगाढ़ विद्वान् महाकविकी श्रीरामचरितकी अगाधतापर दृष्टि जाते ही होने लगी। मनुष्यकी विद्वत्ता भी कोई विद्वत्ता उसके मुकाबले है *'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।'* इसीलिये विषय वा वस्तुका जब अपनी वर्णनाशक्तिसे मुकाबला करता है तब कविको लाचार होकर इस सत्यको शपथपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि *'कबित बिबेक एक नहिं मोरें।'*

(२) इस काव्यके अलौकिक गुणोंको देखकर वस्तुतः यही कहना पड़ता है कि यह अमानुषी कविता है। किसी अदृष्ट शक्तिकी सहायतासे लिखी हुई है। **'केनापि देवेन हृदिस्थितेन। यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'** (पां० गी० ५७) गोस्वामीजीके सम्बन्धमें और उनकी ओरसे पाण्डवगीताका यह वचन अक्षरशः चरितार्थ है। वे कहते हैं कि मैं केवल लिखभर रहा हूँ।

(३) गुणकी कार्पण्यता दिखाकर कविका भाव अपनी नम्रता व्यञ्जित करनेका है। यहाँ प्रसिद्ध काव्य ज्ञानका निषेध करना 'प्रतिषेध अलङ्कार' है। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि यह दीनता है। दीनतामें लघुता भूषण है, दूषण नहीं। पुनः *'संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी'* इससे कवि हो गये, नहीं तो *'रामचरितमानस कबि तुलसी'* न हो सकते थे। उसके योग्य तुलसी न थे। पुनः, कविताका विवेक तीन प्रकारका है। सत्य, शोभा (वा, सादृश्य) और झूठ। सो इनमेंसे दो तो हैं, एक 'झूठ' नहीं है, यह सत्य कहता हूँ।

(४) पंजाबीजी—'आगे मानसरूपकमें तो कहते हैं कि *'धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥'* तब यहाँ कैसे कहा कि *'कबित बिबेक एक नहिं मोरें'* ? उत्तर—यथार्थतः तो यह गोस्वामीजीकी अति नम्रता है। फिर भी उनकी प्रशंसाके निमित्त यह अर्थ कर सकते हैं कि 'मेरी केवल कविता ही है, श्रीरामजीके स्वरूपका विवेक मुझे नहीं है।'

(५) बैजनाथजी—गोस्वामीजी कहते हैं कि काव्यके अङ्गोंपर मेरी दृष्टि नहीं है, श्रीरामतत्त्वपर मेरी दृष्टि है। यथा—*'एहि महँ रघुपति नाम उदारा'।* यह सत्य कहता हूँ। भाव कि रामतत्त्व दिव्य दृष्टिसे देख पड़ता है और काव्याङ्ग प्राकृत दृष्टिकी बात है। इससे स्वाभाविक ही इधर दृष्टि नहीं है।

(६) वे० भू० रा० कु० दास—काव्यसम्बन्धी चार विवेक प्रधान हैं। (क) नायकके विषयमें पूर्ण जानकारी। (ख) नायक धीरोदात्त, सर्वथा निर्दोष तथा सर्वगुणगणविभूषित हो। (ग) कविता काव्यके सर्वगुणों वा लक्षणोंसे पूर्ण हो। (घ) कवि शक्ति एवं उन सब बातोंसे पूर्ण हो जो कविके लिये अपेक्षित हैं। नारदकृत **'संगीत मकरंद'** में कविके लिये सत्रह गुण आवश्यक कहे गये हैं। यथा—'**शुचिर्दक्षः शान्तः सुजनविनतः सुन्दरतरः कलावेदी विद्वानतिमृदुपदः काव्यचतुरः। रसज्ञः दैवज्ञः सरसहृदयः सत्कुलभवः शुभाकारश्छन्दो गुणगणविवेकी स च कविः॥**' यहाँ 'गुणगणविवेकी' से काव्यके गुणोंसे तात्पर्य नहीं है; क्योंकि काव्यचतुर पहले पादमें ही कहा है। प्रत्युत 'काव्यनायकके गुणगणोंका पूर्ण ज्ञाता' होनेसे तात्पर्य है। गोस्वामीजी यहाँ दैन्यता नहीं दिखा रहे हैं बल्कि सच-सच कह रहे हैं कि कविताका यही एक विवेक मेरे नहीं है। अर्थात् मानसकाव्यनायक श्रीरामजीको मैं पूर्णरूपसे नहीं जानता। काव्यके अन्य तीन विवेक हैं और **'संगीत मकरंद'** में कथित अन्य सोलह गुण भी हैं।

(७) पं० रामकुमारजी—गोस्वामीजी यथार्थ कह रहे हैं। वे सत्य ही नहीं जानते थे। यदि कवित-विवेक होता तो ऐसी कविता न बनती। यह देवप्रसादसे बनी है। प्रमाण यथा—*'जदपि कबित रस एकौ नाहीं। रामप्रताप प्रगट एहि माहीं॥'* (१। १०) पुनः श्रीरामजी और श्रीशिवाशिवका प्रसाद है। जब लिखने बैठे तब सरस्वतीजीका आदिहीमें स्मरण किया। वे आयीं और उनके साथ सब काव्यके अङ्ग भी आ गये। *'सुमिरत सारद आवत धाई।' 'होहिं कबित मुकुता मनि चारू।'* रघुनाथजीके प्रसादसे वाणी भूषित हुई। (३६ । १) देखिये।

(८) मा० म०, मा० प्र०—भाव यह है कि मुझे मुख्यतर रामयश कहना है, काव्यका विचार गौण है। जहाँ काव्यके विचारवश यशकथनमें बाधा होगी, वहाँ काव्यका विचार न करूँगा। इस ग्रन्थके लिखनेमें कविताके दोष-गुणका कुछ भी विचार मेरे हृदयमें नहीं है, चाहे आवें चाहे न आवें, मेरा काव्य तो रामयशसे ही भूषित होगा। तब काव्यके अङ्ग कैसे आ गये? इस तरह कि सरस्वतीजीके स्वामी श्रीरामजी हैं अतः जब श्रीरामयश लिखने बैठे तब सरस्वतीजी आ गयीं और उनके साथ सब अङ्ग भी आ गये। (मा० प्र०)

(९) बैजनाथजी लिखते हैं कि अपने मुँह अपनी बड़ाई करना दूषण है। अपनी बड़ाई करनेवाला लघुत्वको प्राप्त होता है। अतः यहाँ यह चतुरता गोसाईंजीने की कि काव्यके सर्वाङ्ग प्रथम गिना आये, फिर अन्तमें कह दिया कि हममें एक भी काव्यगुण नहीं हैं। यह वेदप्रामाणिक प्रार्थना है। प्रथम षोडशोपचार पूजन कर अन्तमें अपराधनिवारणार्थ प्रार्थना की जाती है; वैसे ही यहाँ जानिये।

दो०—भनिति मोरि सब गुन रहित बिश्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक॥ ९ ॥

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥ १॥
मंगल भवन अमंगलहारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी॥ २॥

अर्थ—मेरी कविता सब गुणोंसे रहित है (पर उसमें) एक गुण है जो जगत्‌भरमें प्रसिद्ध है। उसे विचारकर सुन्दर बुद्धिवाले, जिनके निर्मल विवेक हैं, इसे सुनेंगे॥ ९॥ इसमें अत्यन्त पावन, वेदपुराणोंका सार, मङ्गलभवन और अमङ्गलोंका नाश करनेवाला श्रीरघुनाथजीका उदार नाम है जिसे पार्वतीजीसहित श्रीशिवजी जपते हैं॥ १-२॥

नोट—१ (क) *'भनिति मोरि सब गुन रहित'* इति। जिस बातकी शपथ की, उसीको फिर पुष्ट कर रहे हैं कि मेरी कविता समस्त काव्यगुणोंसे रहित है। (मा० प्र०) (ख) *'गुन एक'* इति। एक=एक। =प्रधान, अनुपम, अद्वितीय। 'गुन एक' अर्थात् एक ही गुण है और सब गुणोंसे रहित है। यह गुण अद्वितीय है, अन्य समस्त गुण इसकी समानताको नहीं पहुँच सकते। (पं० रा० कु०) (ग) *'बिश्व बिदित'* इति। देहलीदीपकन्यायसे यह दोनों ओर लगता है। कविता सर्वगुणरहित है, यह सब संसार जानता है और जो एक गुण है वह भी विश्वविदित है। (रा० प्र०) पुनः 'संसार जानता है' कहा क्योंकि जगत्‌में जीते-जी और मरणकालमें भी राम-राम कहने-कहलानेकी प्रथा देखी जाती है, काशीमें इसीसे मुक्ति दी जाती है। (रा० प्र०) पुनः 'विश्वविदित', यथा—'**रामनाम भुविख्यातम्।**' (रा० पू० ता० १। ३) अर्थात् श्रीरामनाम पृथ्वीपर विख्यात है। पुनः, विश्वविदित इससे भी कि शतकोटिरामायण जब तीनों लोकोंमें बाँटा गया तब श्रीशिवजीने *'राम'* इन्हीं दो अक्षरोंको सबका सार समझकर स्वयं ले लिया था।

टिप्पणी—१ *'बिश्व बिदित……'* अर्थात् अद्वितीय है, इसकी समताका कोई नहीं है, इसे सब जानते हैं। श्रीरामनामका प्रताप ऐसा है कि सर्वगुणरहित कविताको सबसे श्रेष्ठ बनाता है, सो रामनाम कवितागुणसे भिन्न है। विश्वविदित है, इसीसे कवितामें भी विश्वविदित गुण आ गया और वह विश्वभरमें विदित हुई।

टिप्पणी—२ *'सो बिचारि……'* इति। भाव यह कि इस गुणके विचारने और कथा सुननेमें बड़ी बुद्धि चाहिये और वह भी निर्मल। विमल विवेक हृदयके नेत्र हैं। यथा—*'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के'।* जिनको इन आँखोंसे देख पड़े और सुन्दर बुद्धिसे समझ पड़े वे सुनेंगे।

टिप्पणी—३ *'सुमति जिन्हके बिमल बिबेक'* इति। लौकिक गुण समझनेके लिये मति और विवेक आवश्यक हैं और दिव्य गुणोंके समझनेके लिये सुमति और विमल विवेक चाहिये। इसीसे *'सु'* और *'बिमल'* पद दिये।

नोट—२ द्विवेदीजी लिखते हैं कि *'सुमति'* होनेपर भी 'विमल विवेक' न होनेसे पण्डितलोग भी षड्दर्शनके हेर-फेरसे नास्तिक हो जाते हैं, सभी बातोंका खण्डन-मण्डन करते हैं, वितण्डावादहीमें सब

आयु समाप्त कर देते हैं। इसलिये 'विमल विवेक' होनेहीसे '*सुमति*' को रामचरितमें प्रीति होती है तब उसे सर्वत्र रामरसहीसे आनन्द होता है।

नोट—३ '*सुमति*——' जनाया कि जो कुमति हैं, दुर्बुद्धि हैं, जिनके हृदयके नेत्र फूटे हैं अर्थात् जो मोहान्ध हैं, उनको नहीं सूझेगा अतः वे न सुनेंगे। (वै०) पुनः भाव कि जिनको विमल विवेक है वे कविताके दोषोंपर दृष्टि न देकर उस एक गुणके कारण इसे गुणयुक्त समझेंगे। (रा० प्र०) यहाँ निषेधाक्षेप-अलङ्कार है।

नोट—४ '*एहि महँ रघुपति नाम उदारा*' इति। (क) वह विश्वविदित गुण क्या है, यह इस अर्धालीमें बताया है। इसमें श्रीरामनाम है। मानसमें प्रायः सभी चौपाइयाँ 'रकार-मकार' से भूषित हैं। (ख) नाम है तो उससे किसीका क्या? उसपर कहते हैं कि वह नाम 'उदार' है। 'उदार' यथा—'**पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्त्वं विदुर्वेदा औदार्यवचसा हरेः॥**' (भगवद्गुणदर्पण, वै०) अर्थात् पात्र, अपात्र, देश और कालका कुछ भी विचार न करके निःस्वार्थभावसे याचकमात्रको वाञ्छितसे भी अधिक देनेवाला है। महान् दाता श्रीरामनामकी उदारता ग्रन्थमें ठौर-ठौर और बालकाण्ड—दोहा १८ से २७ तक भलीभाँति प्रदर्शित की गयी है। यथा—'*राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पापपुंज समुहाहीं॥*—*उलटा नाम जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥ श्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात। रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥ नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई॥*' (२। १९४-१९५) '*पाई न गति केहि पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना। गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥ आभीर जमन किरात खस श्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥*' (७। १३०) इत्यादि। पुनः, '*रघुपति नाम उदारा*' का भाव यह भी है कि श्रीरघुनाथजीके तो अनन्त नाम हैं, परन्तु श्रीनारदजीने श्रीरामजीसे यह वर माँग लिया है कि '*राम*' नाम सब नामोंसे 'उदार' होवे। यथा—'*जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एकते एका॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका*'। (अ० ४२) वही रामनाम इसमें है। यथा—'*रामनाम जस अंकित जानी।*' (पं० रामकुमार) और भी भाव ये हैं—'*रघुपति नाम*' से केवल 'राम' नहीं, वरन् अनेक अभिप्राय सूचित किये हैं। 'रघु' का बड़ा नाम, रघुकुलका बड़ा नाम और रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीका बड़ा नाम, रूप, लीला और धाम इत्यादि इन सबका द्योतक है। यथा—'*मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं*'। '*आयसु दीन्हि न राम उदारा*'। इत्यादि। (बै०) पुनः, उदार इससे भी कि जो भक्ति, मुक्ति अनेक जन्मोंके योग, तप, व्रत, दान, ज्ञान आदि समस्त साधनोंके करनेपर भी दुर्लभ है वह इस कलिकालमें यह नाम दे देता है। (शीलावृत्त) पुनः पूर्व मं० श्लो० ७ में बताया गया है कि अर्थपञ्चकमें 'उपाय स्वरूप' भी एक अर्थ है। यहाँ 'उदार' कहकर जनाया कि श्रीरामनाम समस्त उपायोंमें सर्वश्रेष्ठ है और यह नानापुराणनिगमागम संमत है जैसा आगे कहते हैं। (वे० भू० रा० कु० दा०)। पुनः, ब्राह्मणसे चाण्डालतकको समान भावसे पालन करने और मुक्त करनेसे 'उदार' कहा। उदारका यही लक्षण है। यथा—'**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।**' (सु० द्विवेदी)

टिप्पणी—४ '*अति पावन*' का भाव यह है कि—(क) सब नाम पावन हैं, यह अति पावन है। (ख) पावन करनेवालोंको भी पावन करनेवाला है। यथा—'*तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघपूग नसावन॥*' (उ० ९२) (ग) सब पवित्रोंसे पवित्र है। यथा—'**कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानाम्**' (श्रीहनुमन्नाटक), '**पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्**'। (विष्णुस० नाम० १०)

नोट—५ 'पुराणश्रुतिसार' कहा; क्योंकि वेदमें सर्वत्र अग्नि, सूर्य और औषधिनायक चन्द्रहीकी प्रायः महिमा वर्णित है। 'राम' अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका बीज है, इसलिये अवश्य वेद-पुराणोंका सार है। यथा— '**अपि तु पठितवेदः सर्वशास्त्राङ्गतो वा विधिनियमयुतो वा स्नातको वाहिताग्निः। अपि तु सकलतीर्थव्राजको वा परो वा हृदि यदि न हि रामः सर्वमेतद् वृथा स्यात्॥**' अर्थात् वेद पढ़ा हो, उनके अनुकूल कर्म करता

हो, यदि उसके हृदयमें रामनामका अनुभव न हुआ तो वे सब व्यर्थ हैं। (सु० द्विवेदीजी) बाबा हरीदासजी कहते हैं कि *'पुरानश्रुतिसारा'* का भाव यह है कि जो पुराण और श्रुति रामनाम-रहित है उसको असार जानो। *'सार'* का विशेष भाव दोहा (१९। २) *'बेद प्रान सो'* में देखिये।

टिप्पणी—५ *'मंगलभवन अमंगलहारी……'* इति। *पूर्वार्द्धमें 'मंगलभवन अमंगल हारी'* कहकर उत्तरार्द्धमें उसीका उदाहरण *'उमासहित जेहि जपत पुरारी'* देनेका भाव यह है कि शिवजी अमङ्गल वेष धारण किये हुए भी मङ्गलराशि हैं, सो इसी नामके प्रभावसे। यथा—*'नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साज अमंगल मंगलरासी॥'* (१। २५) अतएव इन्हींका उदाहरण दिया। [पुन: *'मंगलभवन'* कहकर *'अमंगलहारी'* इससे कहा कि काल पाकर सब पुण्य क्षीण हो जाते हैं। **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति'**। यह बात यहाँ नहीं है। श्रीरामनाम उस अमङ्गलको पास भी नहीं आने देते। रामनामका यह प्रभाव जानकर श्रीशिवजी जपते हैं। *'जपत पुरारी'* से जनाया कि अमङ्गलकर्त्ता त्रिपुरका श्रीरामनामजपके बलसे ही नाश किया और लोककल्याणहेतु वे इसे जपते रहते हैं। (बाबा हरीदास)

टिप्पणी—६ *'उमासहित जेहि जपत पुरारी'* इति। रामनामका जप यज्ञ है। यज्ञ सहधर्मिणी-सहित किया जाता है। इसलिये आद्याशक्ति सर्वेश्वरी अर्द्धाङ्गिनी-सहित जपते हैं। [पुन:, दोनों मिलकर एक अङ्ग हैं। यदि केवल शिवजीको लिखते तो आधा शरीर रहता और केवल 'उमा' लिखते तो भी पूरा शरीर न होता। *'तनु अरध भवानी'* प्रसिद्ध है। अत: *'उमासहित'* कहा। (सु० द्विवेदी)। इससे अर्धनारीश्वररूपमें भी जपना कहा।

नोट—६ इन चौपाइयोंमें श्रीरामनामकी श्रेष्ठता तीन प्रकारसे दिखायी गयी। १ *'अति पावन पुरान श्रुति सारा'*, २ *'मंगल भवन अमंगलहारी'* और ३ *'उमासहित जेहि जपत पुरारी।'* पहले बताया कि यह सहज ही परमपावन है और पावनोंको भी पावन करनेवाला है और इसके प्रभावसे विषयी जीव भी पवित्र हो जाते हैं। दूसरेसे मुमुक्षुको मोक्षकी प्राप्ति इसीसे दिखायी और तीसरेसे जनाया कि मुक्त और ईश्वरोंका भी यह सर्वस्व है। ऐसा 'उदार' यह नाम है। पुन:, अन्तमें *'उमा सहित जेहि जपत'* पद देकर सूचित किया कि पूर्वोक्त सब गुणोंको समझकर श्रीशिवपार्वतीजी जपते हैं।

नोट—७ श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, धाम चारों नित्य सच्चिदानन्द विग्रह हैं। यथा, '**रामस्य नामरूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥**' (वसिष्ठसंहिता) इसीसे गोस्वामीजीने चारोंको मङ्गल, पावन और उदार भी कहा है।

चतुष्टय	मंगल	पावन	उदार
नाम	मंगल भवन अमंगलहारी।	अति पावन पुरानश्रुतिसारा।	एहि महँ रघुपति नाम उदारा।
	उमासहित जेहि जपत पुरारी॥	सुमिरि पवनसुत पावन नामू।	
रूप	मंगलभवन अमंगलहारी।	परसत पद पावन सोक नसावन।	ताहि देइ गति राम उदारा।
	द्रवउ सो दसरथ अजिरबिहारी॥	मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन।	सुनहु उदार परम रघुनायक।
लीला	मंगलकरनि कलिमलहरनि	जग पावनि कीरति बिसतरिहहिं।	बालचरित पुनि कहहु उदारा।
	तुलसी कथा रघुनाथ की।	जस पावन रावन नाग महा।	मैं आउब देखन चरित उदार।
धाम	सकल सिद्धि प्रद मंगल खानी	पावन पुरी रुचिर यह देसा।	मंदिर मनि समूह जनु तारा।
	मम धामदा पुरी सुखरासी।	बंदौं अवधपुरी अतिपावनि।	नृपगृह कलस सो इन्दु उदारा।

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥ ३॥
बिधुबदनी सब भांति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**बिचित्र**=विलक्षण, काव्यके सर्वाङ्गोंसे पूर्ण। **कृत**=की या बनायी हुई। **बिधुबदनी**=चन्द्रमुखी, बड़ी सुन्दर। **सँवारी**=शृङ्गार किये हुए, सम्मर्जिता। **बसन**=वस्त्र, कपड़ा। बर=सुन्दर, श्रेष्ठ।

अर्थ—अनूठी कविता हो और जो अच्छे कविकी (भी) बनायी (क्यों न) हो, वह भी बिना रामनामके नहीं सोहती॥ ३॥ (जैसे) चन्द्रमुखी श्रेष्ठ स्त्री सब प्रकारसे सजी हुई भी बिना वस्त्रके नहीं सोहती॥ ४॥

नोट—१ सुन्दरकाण्ड, दोहा २३ में इसके जोड़की चौपाइयाँ हैं। यथा—'*राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥ बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥*'

टिप्पणी—१ '*बिधु बदनी सब भाँति सँवारी।*' इति। '*बिधु बदनी*' कहकर '*सुकबिकृत*' का अर्थ खोला है। वह स्वरूपकी सुन्दर है, उसपर भी '*सब भाँति सँवारी*' और सब भूषणोंसे भूषित है तो भी बिना वस्त्रके अशोभित है। यथा—'*बादि बसन बिनु भूषन भारू।*' (२। १७८)।

दोनोंका मिलान

१ बिधुबदनी	१ भनिति
२ सब भाँति सँवारी	२ बिचित्र (=काव्यगुणयुक्त)
३ सोह न बसन बिना बर नारी।	३ रामनाम बिनु सोह न सोऊ।
४ बसन	४ रामनाम
५ नारी बर अर्थात् अच्छे कुलकी	५ कविता, सुकविकृत

[नोट— '*सुकविकृत*' और '*बर नारी*' से जनाया कि सुकविकी वाणी सर्व काव्याङ्गोंसे पूर्ण होनेसे अवश्य देखनेयोग्य होती है, उसी तरह सुन्दर नख-शिखसे बनी-ठनी स्त्री देखनेयोग्य होती है; तथापि यदि वह कविता रामनामहीन हो और यह स्त्री नंगी हो तो दोनों अशोभित हैं और उनका दर्शन पाप है। असज्जन ही उन्हें देखते हैं, सज्जन नहीं।] '*बर*' से सुशीला, मधुरवचनी आदि भी जनाये।

टिप्पणी—२ '*सोह न बसन बिना।*' इति। अर्थात् जैसे शास्त्रमें नंगी स्त्रीको देखना वर्जित और पाप कहा गया है। यथा—कूर्मपुराण, '**न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषो वा कदाचन।**' वैसे ही रामनामहीन कविताके देखने, कहने, सुननेसे भी पाप लगता है। [नोट—यह लेख शिक्षात्मक भी है। इस विषयमें 'रामचन्द्रिका' में श्रीहनुमान्‌जी और रावणका संवाद पढ़नेयोग्य है।]

लंकाधिराज रावणके प्रश्न	श्रीहनुमान्‌जीके उत्तर
रे कपि कौन तू?	अक्षको घातक, दूत बली रघुनन्दनजूको
को रघुनन्दन रे?	त्रिशिराखरदूषणदूषण भूषण भूको
सागर कैसे तरयो?	जस गोपद
काज कहा?	सियचोरहि देखो
कैसे बँधेउ?	जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखौ]

नोट—२ इन अर्धालियोंसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥ तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि। नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥**' (भा० १। ५। १०-११) अर्थात् जिस वाणीसे, चाहे वह विचित्र पदविन्यासवाली ही क्यों न हो, जगत्को पवित्र करनेवाला श्रीहरिका यश किसी अंशमें भी नहीं गाया जाता, उसे काकतीर्थ ही माना जाता है। उसमें कमनीय धाममें रहनेवाले मनस्वी हंस कभी रमण नहीं करते। इसके विपरीत वह वाक्यविन्यास मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला होता है जिससे कि प्रत्येक श्लोकमें, भले ही उसकी रचना शिथिल भी हो, भगवान् अनन्तके सुयशसूचक नाम रहते

हैं, क्योंकि साधुलोग उन्हींका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं। (१०-११ तथा च,) **न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः॥'** (भा० १२। १२। ५०) इसका अर्थ वही है जो उपर्युक्त श्लोक १० का है। पुनश्च **'शरच्चन्द्रवक्त्रा लसत्पद्मनेत्रा स्वलङ्कारयुक्तापि वासो विमुक्ता। सुरूपापि योषिन्न वै शोभमाना हरेर्नामहीना सुवाणी तथैव॥'** (सत्संगविलास) अर्थात् शरच्चन्द्रवदनी, शरत्कमलनयनी, उत्तम अलङ्कारोंसे युक्त और रूपसम्पन्न स्त्री जैसे वस्त्रहीन होनेसे नहीं शोभित होती वैसे ही भगवन्नामरहित सुन्दर वाणी शोभित नहीं होती।

नोट—३ ***'सब भाँति सँवारी'*** अर्थात् वस्त्र छोड़ शेष पन्द्रहों शृङ्गार किये हों। इसके संयोगसे ***'विचित्र'*** का अर्थ हुआ 'काव्यके समस्त गुणोंसे अलङ्कृत'। यहाँ ***'भणिति विचित्र रामनाम बिनु सोह न'*** उपमेय वाक्य है और ***'सब भाँति सँवारी बिधु वदनी बर नारी बसन बिना सोह न'*** उपमान वाक्य है। ***'सोह न'*** दोनोंका धर्म है। यह धर्म पृथक्-पृथक् शब्दों ***'भनिति बिनु रामनाम' 'नारी बसन बिना'*** द्वारा कहा गया। अतः यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है।

सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम-नाम-जस अंकित जानी॥ ५॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥ ६॥

अर्थ—सब गुणोंसे रहित और फिर बुरे कविकी बनायी (पर रामनामयश-अंकित) वाणीको रामनाम और यशकी छाप लगी हुई जानकर॥ ५॥ पण्डित (बुद्धिमान्) लोग उसीको आदरपूर्वक कहते और सुनते हैं। (क्योंकि) सन्त मधुकरके समान गुणहीको ग्रहण करनेवाले हैं॥ ६॥

नोट—१ ***'रामनाम जस अंकित'*** का अन्वय दीपदेहरीन्यायसे दोनों ओर लगता है। 'वाणी रामनामयश-अंकित' है और ***'रामनाम जस अंकित'*** जानकर सन्त सुनते हैं। ***'अंकित'*** अर्थात् युक्त, भूषित, चिह्नित, मुद्रित, मुहर या छाप पड़ी हुई। यथा—***'नाम-नरेस-प्रताप प्रबल जग, जुग-जुग चालत चामको।'*** (विनय० ९९। ४) ***'गुन'*** अर्थात् काव्यके समस्त गुण। सू० प्र० मिश्रके मतानुसार यहाँ केवल ओज, प्रसाद और माधुर्यगुणोंसे तात्पर्य है। इन गुणोंसे अथवा व्यङ्ग्य, ध्वनि आदिसे रहित कविता।

नोट—२ ***'राम-नाम-जस अंकित'*** का भाव यह है कि जैसे राजाका कोई चिह्न या अंक (जैसे वर्तमान राजके रुपये, पैसे, मोहर, कागजी रुपये इत्यादिपर राजाका चेहरा होता है) चाँदी, सोना, काग़ज पीतल, ताँबा, गिलट इत्यादिपर होनेसे उसका मान होता है और बिना ***'अंक'*** वाला कितना ही अच्छा हो, उसको उस राज्यमें कोई नहीं ग्रहण करता। ठीक वैसे ही 'श्रीरामनामयश' की छाप जिस वाणीपर होती है उसीका संतोंमें आदर होता है। जैसे काग़जके नोटका।

टिप्पणी—१ ***'सादर कहहिं सुनहिं'*** इति। सन्त आदरसे कहते-सुनते हैं। आशय यह है कि सन्त रामनामयशरहित कविताका आदर नहीं करते और रामनामयशयुक्त कविताका आदर करते हैं। पुनः, यह भी ध्वनि है कि ***'बुध'*** आदर करते हैं, अबुध नहीं (अर्थात् ये निरादर करते हैं)। संतोंको गुणग्राही कहकर असन्तोंको अवगुणग्राही सूचित किया। पूर्वार्धमें ***'बुध'*** और उत्तरार्धमें ***'सन्त'*** शब्द देकर दोनोंको पर्याय शब्द सूचित किया। इस तरह ***'बुध'***=पंडित, संत, सज्जन। रामनामयशके प्रभावसे कुकविकी वाणीका आदरणीय होना 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है।

टिप्पणी—२ ***'मधुकर सरिस संत गुन ग्राही'*** इति। 'रामनामयशयुक्त कविताको पुष्पसम कहा। जैसे फूल देखने और ग्रहण करनेके योग्य है, वैसे ही रामनामयशयुक्त कविता देखनेयोग्य है।' भौंरा सुगन्धित फूलोंका रस लेता है, चाहे वे फूल तालाब, नदी, वन, वाटिका और बागमें हों, चाहे मैली जगह हों, चाहे साफ-सुथरी जगहपर। उसको फूलोंके रंग, रूप या जातिका विचार नहीं। उसे तो गन्ध और रससे ही काम है। वैसे ही सज्जनोंको श्रीरामनामयशसे काम है जहाँ भी मिले, चाहे बुरी कवितामें हो, चाहे भलीमें; चाहे कुकविकृत कवितामें हो, चाहे सुकविकृतमें; चाहे ब्राह्मण कविकी, चाहे रैदास, जुलाहे, चाण्डाल

आदिकी हो। काव्यकी विचित्रतापर उनका ध्यान कदापि नहीं रहता। जैसे भौंरा, काँटा, पत्ती आदिको छोड़ केवल पुष्परसको ग्रहण करता है वैसे ही सज्जन यतिभंग और पुनरुक्ति तथा ग्रामीण भाषापर दृष्टि नहीं डालकर केवल श्रीरामयशरूप रस ग्रहण करते हैं। वृद्ध चाणक्यने भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**षट्पदः पुष्पमध्यस्थं यथासारं समुद्धरेत्। तथा हि सर्वशास्त्रेभ्यः सारं गृह्णाति बुद्धिमान्॥**' अर्थात् जैसे भौंरा पुष्पके मध्यसे सार ले लेता है वैसे ही बुद्धिमान् सर्वशास्त्रोंमेंसे सार ले लेते हैं। यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है।

नोट—३ मानस-पत्रिकामें '*मधुकर*' का एक अर्थ 'मधुमक्खी' भी किया है। मधुमक्खी मलमेंसे भी शहद ही निकाल लेती है। वैसे ही सन्त बुरे पदार्थोंमें भी मधुसदृश श्रीरामयशको ही ढूँढ़कर लेते हैं। (४) यहाँतक '*गुण एक*' अर्थात् श्रीरामनामका महत्त्व कहा। '*सब गुन रहित*', '*गुन एक*', '*सो बिचारि सुनिहहिं सुजन*' उपक्रम हैं और '*सब गुन रहित*' '*संत गुनग्राही*' उपसंहार हैं। श्री '*राम*' नाम षट्कला-सम्पन्न है। दोहा १९ (२) देखिये। अतः छः अर्धालियोंमें महत्त्व कहा गया।

नोट—४ पूर्व कविताको '*बिचित्र*' और काव्य करनेवालेको '*सुकबि*' कहा था। अर्थात् कार्य और कारण दोनोंको सुन्दर कहा। और यहाँ कविताको '*गुणरहित*' और उसके कर्ताको '*कुकबि*' कहते हैं। अर्थात् कार्य और कारण दोनोंको बुरा कहा। पहलेमें कार्यकारणके सुन्दर होते हुए भी कविताको अशोभित बताया। यथा—'*रामनाम हीन तुलसी न काहू कामको।*' और दूसरीको कार्यकारण बुरे होनेपर भी सुशोभित दिखाया। इसकी शोभा रामनामयशसे हुई।

जदपि कबित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं॥ ७ ॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा॥ ८ ॥
धूमौ तजै सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगंध बसाई॥ ९ ॥
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी॥ १० ॥

शब्दार्थ—**जदपि**=यद्यपि। **बड़प्पनु**=बड़ाई, गौरव। **करुआई**=कड़ुवापन। **अगर**=एक सुगन्धित लकड़ीका नाम है। **प्रसंग**=साथ। **बसाई**=बसाकर; बास देता है। **भदेस**=ग्राम्य, गँवारी, भद्दी।

अर्थ—यद्यपि इस (मेरी कविता) में काव्यरस एक भी नहीं है, तथापि इसमें श्रीरामजीका प्रताप प्रत्यक्ष है॥ ७॥ यही भरोसा मेरे मनमें आया है कि भलेके संगसे किसने बड़ाई नहीं पायी ? अर्थात् सभीने पायी है ॥ ८॥ धुआँ भी अगरके संगसे सुगन्धसे सुवासित होकर अपना स्वाभाविक कड़वापन छोड़ देता है॥ ९॥* वाणी तो भदेसी है, पर इसमें जगत्‌का कल्याण करनेवाली रामकथा अच्छी वस्तु वर्णन की गयी है॥ १०॥

नोट—१ '*जदपि कबित रस एकौ*……' इति। (क) साहित्यदर्पणमें काव्यपुरुषके अंग इस प्रकार बताये गये हैं। '**काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्च आत्मा, गुणाः शौर्यादिवत्। दोषाः काणत्त्वादिवत्। रीतयोऽवयव-संस्थानविशेषवत्। अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्।**' (सा० द० परिच्छेद १) अर्थात् काव्यके शब्द स्थूल शरीर, अर्थ सूक्ष्मशरीर, रसादि आत्मा, गुण शौर्य आदिवत्, दोष काना, लूला, लंगड़ा, अंगहीनवत्, रीति सुडौल अंगवत् और अलङ्कार भूषण हैं। रसात्मक वाक्यको ही काव्य कहते हैं। '**वाक्यं रसात्मकं काव्यं**' '**दोषास्तस्यापकर्षकाः उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः।**' (साहित्यदर्पण १। ३) दोष उसकी हानि करनेवाले हैं और गुण, अलङ्कार ही उसका गुण करनेवाले हैं। उपर्युक्त उद्धरणोंसे सिद्ध हुआ कि काव्यका आत्मा 'रस' है। यदि 'रस' न रहे तो गुण-अलङ्कार आदि व्यर्थ हैं। इसी विचारसे गोस्वामीजीने यहाँ आत्मा (रस) का ही ग्रहण किया है अर्थात् यह कहा है कि इसमें 'रस' नहीं, इसलिये शब्दादि सब मृतक-सरीखे हैं। (पं० रूपनारायणजी)

---

*वा यों अर्थ करें कि धुआँ अगरके संगसे अपना स्वाभाविक कड़वापन छोड़ देता है और सुगन्धसे वासित हो जाता है।

(ख) बैजनाथजीका मत है कि 'माधुर्यादि गुण, उपनागरिका आदि वृत्ति, लाटा, यमक आदि शब्द, लक्षकादि अर्थ, शृङ्गारादि नवों रस, उपमादि अलङ्कार इत्यादि कवितके 'रस' हैं। यथा, **उपमा कालिदासस्य**…।' (वै०)

(ग) यहाँतक श्रीरामनाम (तथा श्रीरामनामद्वारा कविता) की शोभा कही, अब श्रीरामप्रताप (तथा उसके द्वारा कविता) की शोभा कहते हैं। ***'राम प्रताप प्रगट एहि माहीं'*** अर्थात् इसमें प्रताप प्रकट है और अन्य कविताओंमें प्रकट नहीं है, किंतु गुप्त है। इसमें श्रीरामप्रतापका वर्णन है, अतः श्रीरामप्रतापसे कविताने भी बड़ाई पायी। (पं० रामकुमारजी)

(घ) बाबा हरिहरप्रसादजी और सू० मिश्रजी लिखते हैं कि रामप्रतापका अर्थ 'दुष्टनिग्रह और अनुग्रह' दोनों हैं। दुष्टनिग्रह ऐसे हैं कि इसके पढ़नेसे दुष्ट लोग दुष्टता छोड़ देंगे। अनुग्रह इस तौरपर है कि कविने रामनामका माहात्म्य दुष्टोंको भी सरल करके दिखलाया, क्योंकि दुष्ट तो उसके अधिकारी नहीं होते। पलाशका पत्ता भी पानके साथ राजाके हाथमें जाता है।

(ङ) ***'प्रताप'*** का अर्थ बैजनाथजी यह लिखते हैं—***'कीर्ति स्तुति दान ते भुजबल ते यश थाप। कीरति यश सुनि सब डरैं कहिये ताहि प्रताप॥'***

(च) ***'रामप्रताप प्रगट एहि माहीं'*** इति। यथा—***'जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥'*** (१। २९२) ***'सींक धनुष सायक संधाना'*** से ***'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई'*** तक (अ० १-२), ***'बान प्रताप जान मारीचा'*** (६। ३५से ३७ तक), ***'श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान'*** (लङ्का ३), ***'समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥'*** (लङ्का ३३) से ***'तासु दूत पन कहु किमि टरई'*** (लङ्का ३४) तक, ***'जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥'*** (उ० ३० से ३१ तक) इत्यादि। यह तो हुआ ***'एहि माहीं'*** अर्थात् ग्रन्थमें रामप्रतापका प्रकट कथन। उसके संगसे ग्रन्थमें भी सर्वफलप्रदत्वप्रताप आ गया। यह भी इसी ग्रन्थमें प्रकट किया गया है। यथा—***'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥'*** (१। १५) ***'मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥'*** (७। १२९) ***'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥'*** (७। १३०) इत्यादि। श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम सभीका प्रताप इसमें वर्णित है, जिससे ***'लोक लाहु परलोक निबाहू'*** होगा।

टिप्पणी—१ ***'सोइ भरोस मोरे मन आवा।*** ——' इति। ***'सोइ'*** अर्थात् उसी श्रीरामप्रतापका इस चौपाईमें धूम और अगरका उदाहरण दिया है। अगर रामयश है, धुआँ कविता है। धुएँमें कोई गुण नहीं है। परन्तु अगरके प्रसंगसे वह देवताओंके ग्रहण करनेयोग्य हो जाता है। यह भलाई धुएँको मिली। इसी प्रकार कविता गुणरहित है पर श्रीरघुनाथजीके प्रतापसे यह कविता निकली है और श्रीरामप्रताप ही इसमें वर्णित है जैसे अगरसे धुआँ निकला और अगर धुएँमें है। इसलिये यह कविता भी संतोंके ग्रहण करनेयोग्य है। रामप्रतापसे इसे यह बड़ाई मिली। यहाँ 'तद्गुण अलङ्कार' है। ***'केहि न सुसंग*** ……' से सम्बन्ध लेनेसे 'विकस्वर अलङ्कार' भी यहाँ है।

नोट—२ ***'अगरु प्रसंग'*** तक प्रतापका वर्णन किया गया, ***'भनिति भदेस'*** से ***'जो सरित पावन पाथ की'*** तक कथाके गुण और तत्पश्चात् रामयशके गुण ***'प्रभु सुजस संगति०'*** से ***'गिरा ग्राम्य सियराम जस'*** तक कहे गये हैं।

छं०—मंगलकरनि कलिमलहरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कबिता सरित की, ज्यों सरित पावन पाथ की॥ १०॥ (क)

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीकी कथा मंगल करनेवाली और कलिके दोषोंको हरनेवाली है। (मेरी) कविता (रूपिणी) नदीकी चाल टेढ़ी है जैसी पवित्र जलवाली नदीकी होती है॥ १०॥ (क)

नोट—१ यहाँ प्रथम *'सरित'* शब्द कविताके साथ संयुक्त कविताका रूपक है, अतः वह स्वतन्त्र और वास्तविक *'सरित'* पद नहीं रहा। दूसरा स्वतन्त्र है।

नोट—२ *'सरित पावन पाथ की'* इति। **पाथ**=जल। **सरित**=नदी। पवित्र जलकी नदी। यहाँ नदीका नाम न लेकर *'सरित पावन पाथ की'* पद देकर सरयू, गङ्गा, मन्दाकिनी, यमुना, नर्मदा आदि सभी पवित्र नदियोंको सूचित किया है। रामकथा पवित्र नदियोंके तुल्य है। ☞पूज्य कवि प्रायः पुण्यकथा या कविताकी उपमा पावन नदियोंसे देते हैं। यथा—*'चली सुभग कबिता सरिता सो .... सरजू नाम सुमंगल मूला'* (३९), *'पावन गंगतरंग माल से'* (३२) *'पूँछेहु रघुबर कथा प्रसंगा। सकल लोग जग पावनि गंगा॥'* (११२) *रामकथा मंदाकिनी* (१। ३१) *'जमगन मुँह मसि जग जमुना सी'* (१। ३१) *'सिव प्रिय मेकलसैल सुता सी'* (१। ३१) वाणीका स्थूल द्रवरूप माना गया है। प्रसिद्ध सरस्वती नदी इसका उदाहरण है। तीव्र प्रवचनकी उपमा धाराप्रवाहसे देते ही हैं। अतः आवश्यकतानुसार जहाँ-तहाँ पुण्यतोया नदियोंकी उपमा देना सार्थक है।

'सरित पावन पाथ की' और *'कविता सरित'* का मिलान।

नदी प्रवाहरूपा।	१ कथा प्रवाहरूपा, अतः इसे सरयू-गङ्गादि कहा।
पवित्र जलकी नदी टेढ़ी।	२ कविताकी गति कूर (भदेस) है।
इसमें पावन जल वस्तु है।	३ इसमें अति पावन रामकथा वस्तु है।
पावन जलके सम्बन्धसे नदी पापोंका नाश करके मोक्ष देती है।	४ कथाके सम्बन्धसे कविता कलिमलहारणी और मङ्गलकारिणी होगी।
जलके आगे नदीका टेढ़ापन कोई नहीं देखता।	५ रामकथाके आगे कविताके भद्देपनपर कोई दृष्टि न डालेगा।

☞मिलान कीजिये, **'वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि। वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄन् तत्पादसलिलं यथा॥'** (भा० १०। १। १६) अर्थात् जैसे भगवान्‌का चरणोदक (गङ्गा) सबको पवित्र करता है वैसे ही भगवान्‌की कथाका प्रश्न भी तीनों प्रकारके स्त्री-पुरुषोंको पवित्र करता है। अर्थात् वक्ता, श्रोता और प्रश्नकर्ताको पावन करता है।

नोट—३ (क) मुं० रोशनलाल—कविता नदीकी गति टेढ़ी है, जैसे पावन जलवाली गङ्गाकी गति है। क्योंकि यह कथा अयोध्यासे प्रारम्भ होकर मिथिला गयी, फिर अयोध्या आयी, वहाँसे फिर चित्रकूट, फिर केकय देश, फिर अयोध्या, फिर चित्रकूट इत्यादिसे लङ्का और वहाँसे पुनः अयोध्या लौटी। इतनी टेढ़ाई गङ्गाजीमें भी नहीं है।

(ख) सू० मिश्र—कूरका अर्थ कुटिल है। कुटिल कहनेका भाव यह है कि नदियाँ सदा टेढ़ी ही चलती हैं। **'नद्यः कुटिलगामित्वात्।'** अतः कविता भी टेढ़ी होनी चाहिये। कविता-पक्षमें टेढ़ेका अर्थ गम्भीराशय है, बिना इसके कविताकी शोभा नहीं। जैसे नदी पथिकके स्नान करने, जल पीने और उसके संयोगकी वायुके स्पर्शसे श्रम, पाप आदि हरती है उसी तरह मेरी कविता भी पथिक भक्तको पढ़ने-सुननेसे पवित्र करेगी। पंजाबीजी और रा० प्र० का मत है कि कवितापक्षमें 'दूषण' ही क्रूरता है। (पं०, रा० प्र०)।

(ग) द्विवेदीजी—रामका माहात्म्य होनेसे यह कथा मङ्गल करनेवाली और कलिमल हरनेवाली है, यह पिछली चौपाईकी व्याख्यासे स्पष्ट है। ग्रन्थकारका अभिप्राय है कि यद्यपि मेरी कविताकी गति टेढ़ी है तथापि यह बड़े उच्चस्थान कैलाशसे महादेवके अनुग्रहसे निकली है, जैसे कि गङ्गा आदि नदियाँ जिनमें ब्रह्मद्रवरूप पवित्र जल भरा है, उसी प्रकार इसमें भी साक्षात् ब्रह्मरूप रघुनाथकथामृत भरा है।

नोट—४ इस छन्दका नाम 'हरिगीतिका' है। इसके प्रत्येक चरणमें १६, १२ के विरामसे २८ मात्राएँ होती हैं, अन्तमें लघु गुरु होता है। यदि पाँचवीं, बारहवीं और उन्नीसवीं मात्राएँ लघु हों तो धाराप्रवाह सुन्दर रहता है।

नोट—५ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि यदि कोई कहे कि श्रीरघुनाथजीकी कथा मङ्गलकारी तो है परन्तु जब सुन्दर काव्यमें हो, न कि कुकाव्यमें। इसके उत्तरमें चार दृष्टान्त देते हैं। पहले दृष्टान्तसे

यह पुष्ट किया कि पावनके संगसे टेढ़ा भी पावन हो जाता है। अतः कुकाव्य रामयशके संगसे सत्काव्य हो जायगा। यहाँ दृष्टान्तमें एक देश टेढ़े-सीधेका मिला। दूसरे दृष्टान्त *'भव अंग भूति मसान की'* में सुहावन-असुहावन, पावन-अपावन ये दो देश मिले, तीसरेमें उत्तम-मध्यमका देश मिला और चौथेमें गुणद-अगुणदका देश मिलनेपर पाँच अंग जो चाहते थे पूर्ण हो गये। (मा० प्र०)

छं०—प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥ १०॥ (ख)

अर्थ—श्रीरामजीके सुन्दर यशके संगसे मेरी कविता भली हो जायगी और सज्जनोंके मनको भायेगी। जैसे **भव**(=शिवजी) के अंगमें श्मशानकी (अपवित्र) विभूति भी (लगनेसे) स्मरण करते ही सुहावनी और पवित्र करनेवाली होती है॥ १० (ख)॥*

नोट—१ भाव यह है कि मेरी कविता श्मशानकी राखकी तरह अपवित्र है, श्रीरामयशरूपी शिव अंगका संग पाकर भली जान पड़ेगी और सबके मनको भायेगी।

'सुमिरत' पद देकर सूचित किया कि इसका पाठ, इसकी चौपाइयोंका स्मरण सिद्धिका दाता है।

टिप्पणी—१ यहाँ सुयशको भव-अंगकी और भणितिको श्मशानके भस्मकी उपमा दी। *'सुजन मन भावनी'* और *'भलि होइहि'* दो बातें कहीं, उसीकी जोड़में *'सुहावनि'* और *'पावनी'* दो बातें कहीं। *'सुमिरत'* के जोड़का पद *'कहत सुनत'* लुप्त है, उसे ऊपरसे लगा लेना चाहिये।

नोट—२ 'परमेश्वरके एक गुणसे युक्त हो तो भी कविता शोभित होती है, और मेरी कविता तो अनेक गुणोंसे युक्त है। (१) रामभक्तिसे भूषित है। यथा—*'रामभगति भूषित जिय जानी'*, (२) रामनामसे युक्त है। यथा—*'एहि महँ रघुपति नाम उदारा'*, (३) रामप्रतापसे युक्त है। यथा—*'रामप्रताप प्रगट एहि माहीं'*, (४) रामकथासे युक्त है। यथा—*'भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगल करनी॥'*, (५) रामयशसे युक्त है। यथा—*'प्रभुसुजस संगति भनिति भलि'*।

नोट—३ कविता देखने लायक नहीं है, इससे कविताका कहना-सुनना नहीं लिखा।

नोट—४ *'भलि होइहि'* अर्थात् अच्छी होगी और *'सुजन मन भावनी'* अर्थात् दूसरेको भी अच्छी लगेगी। इन्हीं दोनों बातोंको उपमामें कहते हैं। *'पावनी'* आप होती है और *'सुहावनी'* दूसरोंको होती है।

नोट—५ *'प्रभु सुजस......'* उपमेय वाक्य है। *'भव अंग......'* उपमान वाक्य है। वाचक पदके बिना बिम्ब-प्रतिबिम्बका भाव झलकना 'दृष्टान्त अलङ्कार' है।

नोट—६ [मिलानका श्लोक, यथा—'**तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्। तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥**' (भा० १२। १२। ४९)]

दो०—प्रिय लागिहि अति सबहि मम, भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग॥ १०॥ (क)

शब्दार्थ—**दारु**=काष्ठ, लकड़ी। **बिचारु**=ध्यान, खयाल।

अर्थ—श्रीरामयशके संगसे मेरी कविता सभीको अत्यन्त प्रिय लगेगी, जैसे मलयगिरिके प्रसंगसे सभी काष्ठ वन्दनीय हो जाते हैं, फिर क्या कोई लकड़ीका विचार करता है?॥ १० (क)॥

नोट—१ मलयगिरिपर नीम, बबूल इत्यादि भी जो वृक्ष हैं उनमें भी मलयगिरिके असली चन्दनके वृक्षकी सुगन्ध वायुद्वारा लगनेसे ही चन्दनकी-सी सुगन्ध आ जाती है। उन वृक्षोंका आकार भी ज्यों-

* मानस-पत्रिकामें इसका अर्थ यह दिया है—(क्योंकि) महादेवके देहकी श्मशानकी भी राखको लोग स्मरण करते हैं और वह शोभायमान और पवित्र कही जाती है।'

का-त्यों बना रहता है और वे चन्दनके शुभ गुणसे विभूषित भी हो जाते हैं। लोग इन वृक्षोंकी लकड़ीको चन्दन मानकर माथेपर लगाते हैं और देवपूजनके काममें लाते हैं। कोई सुगन्धके सामने फिर यह नहीं सोचता कि यह तो नीम या कङ्कोल आदिकी लकड़ी है। भर्तृहरिनीतिशतक, श्लोक ८०में जैसा कहा है कि **'किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव। मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः॥'** गोस्वामीजी कहते हैं कि इसी तरह मेरी कविताकी भाषा नीम, बबूल आदिके समान है। रामयश मलयगिरि है। उसका संग पाकर मेरी कविताका भी चन्दनके सदृश आदर होगा। **'चन्दनं वन्द्यते नित्यम्।'**

दो०—स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय-राम-जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥ १०॥ (ख)

अर्थ—काली गऊका दूध बहुत उज्ज्वल और गुणकारी है (इसलिये) सब पीते हैं। इसी तरह गँवारू भाषामें श्रीसीतारामजीका (सुन्दर) यश होनेपर भी सुजान लोग उसे गाते और सुनते हैं तथा गावें और सुनेंगे॥ १०॥ (ख)

नोट—१ '......*सियराम जस*' इति। यशका रंग श्वेत है। उसमें भी श्रीसीतारामजीका यश परमोज्ज्वल और अतिशय विशद है। अतः उसके लिये विज्ञ कविने चारों दृष्टान्त उज्ज्वल स्वच्छ वस्तुओंके ही दिये। यथा, गङ्गाजल, शिवजीका शरीर, मलयाचल और दूध।

टिप्पणी—१ (क) सज्जनके ग्रहण करनेमें 'रामनाम-अंकित' कहा। (ख)बड़ाई पानेमें रामप्रताप कहा। (ग) दूसरेके मङ्गल करनेमें और कलिमल हरनेमें सरयूगङ्गादिके समान कहा। (घ) अपना स्वरूप अच्छा होनेमें और पवित्र होनेमें '*भवअंग*' पर लगी हुई मसानकी विभूति-सम कहा। (ङ) सबको प्रिय लगनेमें मलयदारु-सम कहा। (च) ग्राम्यभाषाका सबके ग्रहण करनेमें श्याम गऊके दूधका दृष्टान्त दिया।

टिप्पणी—२ दूधकी उपमा रामयशकी है। रामयश 'अति विशद' है; इसलिये दूधको 'अति विशद' कहा। सब गायोंके दूधसे काली गऊका दूध अधिक उज्ज्वल और गुणद होता है। बलको बढ़ाता है, वातका नाशक है। **'गवां गोषु कृष्णा गौर्बहुक्षीरा', 'कृष्णाया गोर्भवं दुग्धं वातहारिगुणाधिकम्'** (इति वैद्यक-रहस्य)। [सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि कपिलाका दुग्ध कफ, पित्त और वातवर्धक होता है, इसीलिये इसके रखनेका ब्राह्मण छोड़ और किसीको अधिकार नहीं है। **'त्रीन् हन्ति कपिलापयः।'** मिलान कीजिये—**'वेदाक्षरविचारेण ब्राह्मणीगमनेन च। कपिलाक्षीरपानेन शूद्रो याति विनाशताम्॥'** 'श्याम' से यह भी सूचित किया कि कपिला गऊके दूध और सेवनका अधिकार सबको नहीं है, दूध सभीका उज्ज्वल है। (रा० प०) इसी तरह सब भाषाओंमें अर्थ एक ही होता है, परन्तु देशी भाषामें अधिक गुण यह है कि थोड़े ही परिश्रमसे यह भाषा पढ़ने, लिखने, समझनेमें आ जाती है और सबको इसके पाठका अधिकार है। एवं इस मेरी गँवारी भाषासे उत्पन्न अत्यन्त अमृतरूप उज्ज्वल दुग्ध-सदृश रामकथाको सब कोई पान कर सकता है; पर कपिलासदृश संस्कृत-भाषा केवल ब्राह्मणोंहीके यहाँ रहती है; उससे उत्पन्न रामकथामृत और लोगोंको दुर्लभ है]

नोट—२ चार दृष्टान्त देनेका भाव—(क) गोस्वामीजी जो रूपक '*राम सुजस संगति*' का बाँधना चाहते थे उसके सम्पूर्ण अंग किसी एक वस्तुमें न मिले तब एक-एक करके दृष्टान्त देते गये। चौथे दृष्टान्तपर रूपक पूरा हुआ, तब समाप्ति की। (ख) श्रीरामयशके संगसे मेरी कविता मङ्गलकारिणी, कलिमलहारिणी, भली और सुजन-मनोहारिणी सुन्दर और पवित्र, आदरणीय और अत्यन्त विशद हो जायेगी। (ग) बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि प्रथम पावनी नदियोंकी उपमा देकर दिखाया कि नदीकी टेढ़ी चाल होनेपर भी जल पावन ही बना रहता है और अपना गुण नहीं छोड़ता, इसी तरह मेरी कविता भद्दी है पर

उसमें रामकथा है; वह मङ्गल करेगी ही और पाप हरेगी ही। दूसरे दृष्टान्तसे अपावन वस्तुका शिव-अंग-संगसे पावन और सुहावन होना मिला। तीसरेमें मलयगिरिके सम्बन्धसे नीमादिकका भी चन्दन-सम वन्दनीय होना अंग मिला। चौथेसे यह अंग मिला कि काली है पर दूध इसका विशेष उज्ज्वल और गुणद है; इससे सब पान करते हैं। (मा०प्र०)

नोट—३ गौके दृष्टान्तपर रूपक समाप्त करनेका भाव यह है कि गऊ देश-देश विचरती है और कामधेनु चारों फलकी देनेवाली है। उसका दूध, दही, घृत, मूत्र और गोबरका रस पञ्चगव्यमें पड़ता है जो कल्याणकारी है। वैसे ही यह कविता देश-देशान्तरमें प्रसिद्ध होगी, पूजनीया होगी और चारों फलोंकी देनेवाली होगी। यथा—*'रामकथा कलि कामद गाई'*, *'रामचरन रति जो चहइ अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥'*, *'रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥'* (उ० १३०)

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥ १॥

शब्दार्थ—**मनि** (मणि)=बहुमूल्य रत्न जैसे हीरा, पन्ना आदि। **मानिक** (माणिक्य)=लाल। माणिक्यके तीन भेद हैं, पद्मराग, कुरुबिन्दु और सौगन्धिक। कमलके रंगका पद्मराग, टेसूके रंगका लाल कुरुबिन्द और गाढ़ रक्तवर्ण-सा सौगन्धिक। हीरेको छोड़ यह और सबसे कड़ा होता है। **मुकुता** (मुक्ता)=मोती। मोतीकी उत्पत्तिके स्थान गज, घन, वराह, शङ्ख, मत्स्य, सीप, सर्प, बाँस और शेष हैं, पर यह विशेषत: सीपमें होती है औरोंमें कहीं-कहीं। यथा— **'करीन्द्रजीमूतवराहशंखमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि॥'** (मल्लिनाथ सूरि)

अर्थ—मणि, माणिक्य और मुक्ताकी छबि जैसी है, वैसी सर्प, पर्वत और हाथीके मस्तकमें शोभित नहीं होती। (अर्थात् उनसे पृथक् ही होनेपर इनका वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है और ये सुशोभित होते हैं)॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) 'ऊपर दसवें दोहेतक अपनी कवितामें गुण-दोष दिखाये कि ये गुण समझकर सज्जन ग्रहण करेंगे। जो कहो कि 'कोई न ग्रहण करे तो क्या हानि है, तुम तो गाते ही हो?' उसपर यह चौपाई कही। (ख) मणि, माणिक्य, मुक्ता क्रमसे उत्तम, मध्यम, निकृष्ट हैं, इसी तरह कविता भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकारकी है। अर्थात् ध्वनि, व्यंग और जो इन दोनोंमें न आवे। (ग) यथासंख्य अलङ्कारसे मणि सर्पमें, माणिक्य गिरिमें और मुक्ता गजके मस्तकपर होना सूचित किया।'

नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥ २॥

अर्थ—(ये ही) सब राजाके मुकुट (वा, राजा, राजाका मुकुट) और नवयौवना स्त्रीके शरीरको पाकर ही (सम्बन्धसे) अधिक शोभाको प्राप्त होते हैं॥ २ ॥

नोट—१ कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि 'कविने मणि, माणिक्य और मुक्ता ये तीन रत्न कहे और उनके तीन उत्पत्तिस्थान बताये। इसी तरह उनके सुशोभित होनेके तीन स्थलोंका भी वर्णन करना चाहिये था। गोस्वामीजीने *'नृप किरीट'* और *'तरुनी तनु'* ये दो ही क्यों कहे?' परन्तु यह व्यर्थकी शङ्का है। उन तीन रत्नोंके वर्णन करनेसे यह जरूरी नहीं है कि उनकी शोभाके तीन ही ठौर भी बताये जायँ। भूषणों और अंगोंमें उनकी शोभा होती है सो कहा। दोनों दो बातें हैं। फिर भी इस शङ्काके समाधानके लिये *'नृप किरीट'* का अर्थ राजा और राजाका मुकुट कर सकते हैं। मणिकी शोभा राजाके गलेमें, माणिक्यकी किरीटमें (नग जड़नेपर) और गजमुक्ताकी स्त्रीके गलेमें। इस प्रकार शोभाके तीन स्थान हुए।

नोट—२ (क) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि नृप (=नरोंका पालनकर्ता) को प्रजापालनमें मणि काम देती है। *'हरइ गरल दुख दारिद दहई'।* पातालमें सूर्यका काम मणिसे लेते हैं। (ख) नंगे परमहंसजी

लिखते हैं कि यहाँ काव्यकी समता मणि, माणिक्य, मुक्तासे दी है। सो यहाँ कवितामें जो भक्तिका वर्णन है वही मणि है। यथा, *'रामभगति मनि उर बस जाके।'* (७। १२०) ज्ञानका वर्णन हीरा है और कर्मप्रसंगका वर्णन मुक्ता है। अतः भक्ति, ज्ञान और कर्मसंयुक्त काव्य ही सन्तसमाजमें अधिक शोभा पाता है। क्योंकि इन्हीं तीनोंका निरूपण सन्तसमाजमें हुआ करता है। यथा—*'ब्रह्मनिरूपन धर्मबिधि बरनहिं तत्वबिभाग। कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ग्यान बिराग॥'* (१। ४४) (ग) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'भक्ति हरिसे, ज्ञान हरसे और कर्म ब्रह्मासे प्रकट हुए, परन्तु इनकी शोभा इन तीनोंके पास नहीं होती। भक्ति मणि सुमति स्त्रीको पाकर, ज्ञानरूपी माणिक्य ज्ञानी और कर्मरूपी मुक्ता कर्मकाण्डीका, विचाररूपी राजाका मुकुटमणि पाकर शोभते हैं।' (घ) पं० रामकुमारजीके पुराने खर्रेमें यह भाव लिखा है कि 'ज्ञानी नृप हैं, उनका ज्ञान किरीट है और उनकी भक्ति तरुणी है।' पर साफ खर्रेमें यह भाव नहीं रखा गया।

नोट—३ पं० रामकुमारजी *'नृप किरीट'* और *'तरुनी तनु'* का यह भाव कहते हैं कि 'गजमुक्तासम सुकविकी वाणी है जो *'नृप किरीट'* और *'तरुनी तनु'* पाकर शोभा पाती है। अभिप्राय यह है कि कैसा भी सुन्दर कवि हो यदि वह रामचरित न कहे और राजाओंके चरित्र, नायिका-भेद आदि अनेक बातें कहे, तो उस काव्यको नृप अर्थात् रजोगुणी और तरुणी अर्थात् तमोगुणी ग्रहण करते हैं; सतोगुणी नहीं ग्रहण करते और ऐसे काव्यको सुनकर सरस्वती सिर पीटती है। यथा—*'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥ रामचरितसर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये॥ कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥'* (१। ११) (नोट—१ परन्तु अगली चौपाईसे स्पष्ट है कि काव्यकी एक देशमें उत्पत्ति और दूसरे देशमें शोभा पाना ही केवल यहाँ दिखा रहे हैं। २ *'अधिकाई'* से जनाया कि शोभा तो वहाँ भी थी पर यहाँ अधिक हो जाती है)।

अलङ्कार—एक वस्तुका क्रमशः बहुत स्थानोंमें आश्रय लेना वर्णन किया गया है। अतएव यहाँ 'प्रथम पर्याय' है। प्रथम स्थान *'अहि गिरि गज'* कहकर फिर *'नृप किरीट'* और *'तरुनी तनु'* दूसरा स्थान कहा गया। इस अर्धालीमें *'लहहिं सकल सोभा अधिकाई'* पदसे 'अनगुन अलङ्कार' हुआ। यथा—*'पहिलेको गुण आपनो बढ़े आन के संग। ताको अनुगुन कहत जे जानत कबिता अंग।'*

तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥ ३॥

अर्थ—१ सज्जन कहते हैं कि उसी तरह सुकविकी कविता और जगह रची जाती है और दूसरी जगह शोभाको प्राप्त होती है॥ ३॥

अर्थ—२ उसी तरह सुन्दर कवियोंकी कविताको बुधजन कहते हैं अर्थात् गाते हैं। *'उपजी तो और ठौर, शोभा पाई और ठौर'!* [नोट—पर इस अर्थमें यह आपत्ति है कि अपण्डित भी तो कहते हैं। (दीनजी)]

मिलान कीजिये—**'कविः करोति काव्यानि बुधः संवेत्ति तद्रसान्। तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्वहति सौरभम्॥'** (संस्कृतखर्रा)

नोट—१(क) *'तैसेहि'* इति। अर्थात् जैसे मणिकी सर्पसे, माणिक्यकी पर्वतसे और मुक्ताकी गजसे उत्पत्ति तो होती है परन्तु इनकी शोभा नृपके मुकुट या युवतीके तनमें होती है, वैसे ही कविताकी उत्पत्ति कविसे और उसकी शोभा बुधसमाजमें होती है। यहाँ सुकवि *'अहि गिरि गज'* हैं, कविता 'मणि, माणिक्य, मुक्ता' है और बुधसमाज 'नृपकिरीट तरुणीतन' है। (ख) कौन कविता मणि है, कौन माणिक्य और कौन मुक्ता? यह प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं कि भक्तियुक्त कविता मणि है, ज्ञानविषयक काव्य माणिक्य है और कर्मसम्बन्धी कविता मुक्ता है। इसी प्रकार शोभा पानेके स्थान 'नृपकिरीट तरुणीतन' क्रमसे संत पंडित और बुद्धिमान् हैं। पिछली चौपाईमें भी कुछ लोगोंके भाव लिखे गये हैं। भाव यह है कि मणि, माणिक्य, मुक्ता प्रत्येक एक-एक स्थानपर शोभा पाते हैं, पर मेरी कवितामें तीनों मिश्रित हैं, अतएव इसकी शोभा भक्त, ज्ञानी, कर्मकाण्डी, संत, पण्डित, बुद्धिमान् सभीमें होगी, यह जनाया। (मा० मा० खर्रा)

(ग) *'अनत छबि लहहीं'* इति। भाव कि जब अन्यत्र गयी, अन्य पण्डितोंके हाथ लगी, तब उन्होंने उसपर अनेक विचित्र भावसमन्वित तिलक कर दिया, अनेक प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाण दिये। जैसे मणि-माणिक्य आदि नृपकिरीटादिमें एक तो सुवर्णकान्तिकी सहायतासे, दूसरे सुन्दर शरीरके संगसे अधिक शोभाको प्राप्त होते हैं, वैसे ही कविता बुधसमाजमें भावोंकी सहायता और प्रमाणोंसे पुष्ट होनेसे अधिक शोभाको प्राप्त होती है। जैसे ब्रह्मसूत्रपर आचार्योंने भाष्य करके उसकी शोभा बढ़ायी।(वै०) (घ) कविताको मणि आदि-की उपमा दी गयी। अब आगे बताते हैं कि मणिमुक्तारूप कविता 'कब और कैसे' बने? सरस्वतीकी कृपासे बनते हैं और सरस्वतीकी कृपा तभी होती है जब रामयश गाया जावे। (करु० मा० प्र०)

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥ ४॥
रामचरितसर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें॥ ५॥

अर्थ—कविके सुमिरते ही सरस्वती भक्तिके कारण ब्रह्मलोकको छोड़कर दौड़ी आती हैं॥ ४॥ उनके तत्काल दौड़े आनेका वह श्रम बिना रामचरितरूपी तालाबमें नहलाये करोड़ों उपाय करनेसे भी नहीं जाता॥ ५॥

नोट—१ *'आवति धाई'* इति। क्योंकि वह श्रीरामकी उपासिका है। यथा—*'कपट नारि बर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहि जाई॥'* (३१८) *'लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहैं।'* (१। ३२७) *'देखि मनोहर चारिउ जोरी।''''''एकटक रही रूप अनुरागी॥'* (१। ३४९) इत्यादि। मं० श्लो० १ में देखिये। दूसरा भाव यह है कि रामयशगानभक्ति ऐसी अलभ्य वस्तु है कि शारदा ब्रह्मलोक ऐसी आनन्दकी जगह भी छोड़ देती हैं।

पुनः, *बिधिभवन*=नाभि कमल। सबकी नाभिकमलमें ब्रह्माका वास है। अतः नाभिकमल ब्रह्मभवन हुआ। वहाँ उनका नाम 'परा वाणी' है। वह सरस्वती परा वाणी स्थानको छोड़कर हृदयमें पश्यन्ती वाणी हो, कण्ठमें मध्यमा हो, जिह्वामें वैखरी वाणी हो शब्दरूप होकर आ बैठती है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा सब स्थानोंको छोड़कर जिह्वापर आ जाना ही 'धाइ आवना' है। (रा० प०)

महामहोपाध्याय पं० श्रीनागेशभट्टजीने 'परम लघु मंजूषा' नामक ग्रन्थमें 'स्फोटविचार-प्रकरण' में वाणीके स्थान और उनका वर्णन विस्तारसे दिया है। हम उसीसे यहाँ कुछ लिखते हैं। वाणी चार प्रकारकी है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। मूलाधारस्थपवनसे संस्कारीभूत शब्दब्रह्मरूप स्पन्दशून्य बिन्दुरूप मूलाधारमें स्थित वाणीको 'परा वाणी' कहते हैं। [उपस्थके दो अंगुल नीचे और गुदाद्वारके दो अंगुल ऊपर मध्यभागमें एक अंगुल स्थानको मूलाधार कहा जाता है। कुण्डली भी इसी मूलाधारमें स्थित रहती है।] वही परा वाणी जब उस पवनके साथ नाभिकमलतक आती है और वहाँ कुछ स्पष्ट (अभिव्यक्त) होनेपर मनका विषय होती है, तब उसको 'पश्यन्ती' कहते हैं। ये दोनों वाणियाँ योगियोंको समाधिमें निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानका विषय होती हैं, सर्वसाधारणको इनका ज्ञान नहीं होता। वही वाणी हृदयतक जब पवनके साथ आती है और कुछ अधिक स्पष्ट होती है परन्तु श्रोत्रके द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, केवल जपादिमें बुद्धिके द्वारा जाननेयोग्य होती है तब उसको 'मध्यमा' कहते हैं। यह वैखरीकी अपेक्षा सूक्ष्म है। वही जब फिर मुखतक आती है तब उस वायुके द्वारा प्रथम मूर्द्धासे ताड़ित होकर फिर कण्ठ, तालू, दन्त आदि स्थानोंमें अभिव्यक्त पर श्रोत्रसे ग्राह्य होनेपर वही 'वैखरी' कही जाती है। इसके प्रमाणमें उन्होंने यह श्लोक दिया है। यथा—'**परावाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥**' हमलोग जो बोलते हैं उसमें मध्यमा और वैखरी दोनों मिली रहती हैं। कान ढकनेपर जो ध्वनि सुननेमें आती है वही मध्यमा वाणी है।'

इस प्रमाणके अनुसार वाणीके स्थानोंमें मतभेद देख पड़ता है। श्रीकाष्ठजिह्वास्वामी भी बड़े भारी विद्वान् और सिद्ध महात्मा थे। सम्भव है कि उन्होंने कहीं वैसा प्रमाण पाया हो जैसा ऊपर (रा० प०) में दिया है।

नोट—२ *'बिधि'* पदमें श्लेष है। विधि ऐसे पति, विधि ऐसा लोक और विधि ऐसे भवनको त्याग देती है। अपना पातिव्रत्य त्याग देती है, मन्दगमन विधानको त्याग देती है और रामयशगान करनेवालेके पास आ प्राप्त होती है। अतः रामयश ही गाना चाहिये। ये सब भाव इसमें हैं। (खर्रा)

नोट—३ *'सुमिरत सारद आवति'* इति। इस कथनसे जान पड़ता है कि मङ्गलाचरण करते ही वह यह समझकर दौड़ पड़ती है कि मुझसे श्रीरामयश-गान करानेके लिये मेरा स्मरण इसने किया है; इससे प्राकृत मनुष्यका गुनगान करना हेतु जानकर पीछे पछताना कहते हैं। (*'भगति हेतु'* का अर्थ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'श्रीरामभक्तिभूषित काव्य बनानेके लिये' है)

नोट—४ हरिभक्त जो कोई विद्या पढ़े नहीं होते, भजनके प्रतापसे पद-के-पद कह डालते हैं। वाल्मीकिजीके मुखसे आप-ही-आप श्लोक प्रथम निकला था। केवल अनुभवसे स्वतः उद्गारद्वारा कविता रचना यही 'वाणीका दौड़ आना' है।

नोट—५ श्रमके दूर करनेको स्नान कराना कहा। कोई दूरसे थका आवे तो उसके चरण जलसे धोनेसे थकावट साधारण ही दूर हो जाती है, इसलिये स्नान कराना कहा। (पं० रा० कु०) रामचरित-सरमें श्रीसीताराम-सुयशसुधासलिलमें स्नान कराना सरस्वतीजीसे श्रीसीतारामसुयश अपनी जिह्वाद्वारा कहलाना है। ब्रह्मभवनको छोड़कर कविकी जिह्वापर आनेमें जो श्रम हुआ वह इस श्रीरामगुणगानसे मिट जाता है, अन्यथा नहीं। मिलान कीजिये, **'झटिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामहविष्टपान्महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत। अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिकाम्॥'** (प्रसन्न राघव १। ११) अर्थात् ब्रह्मलोकसे पृथ्वीपर वेगपूर्वक आनेसे इस बड़े मार्गमें जो सरस्वतीको श्रम हो गया है वह श्रीरघुपतिगुणग्रामके प्रेमपूर्वक कथनरूपी अमृतकुण्डमें बिना स्नान किये कैसे छूट सकता है?

कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी॥ ६॥
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति[1] पछिताना॥ ७॥

शब्दार्थ—**प्राकृत**=साधारण।=संसारी।=जो मायाके वश हैं।

अर्थ—ऐसा हृदयमें विचारकर कवि-कोविद कलिके पापोंका हरनेवाला हरियश गाते हैं॥ ६॥ साधारण वा संसारी मनुष्योंका गुण गानेसे वाणी अपना सिर पीट-पीटकर पछताने लगती है (कि किसके बुलानेसे मैं आ गयी)॥ ७॥

नोट— *'सिर धुनि'* इति। मानो शाप देती है कि जैसे मेरा आना व्यर्थ हुआ वैसे ही तेरी कविता निष्फल हो, उसका सम्मान न हो, जैसे तूने मुझे नीचोंके कथनमें लगाया वैसे ही तुम भी नीच गति पाओगे। (पंजाबीजी, वै०) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'शारदाका सम्बन्ध श्रीरामजीसे है। जब उनका सम्बन्ध कोई नीचसे करायेगा, अर्थात् उनका उपयोग किसी अदिव्य पात्रके विषयमें करेगा, तो उनको अवश्य दुःख होगा।' काष्ठजिह्वास्वामीजी कहते हैं कि 'संसारी जीवोंमें ईश्वरत्व माने बिना तो स्तुति बन ही नहीं सकती, मिथ्या स्तुति जानकर सरस्वती पछताती है।' (रा० प०) श्रीरामजी गिरापति हैं। यथा—*'ब्रह्म, बरदेव बागीश, व्यापक, विमल, विपुल, बलवान, निर्वानस्वामी॥'* (विनय० ५४) *'वेद-विख्यात, वरदेश वामन, विरज, विमल, वागीश वैकुंठस्वामी।'* (विनय० ५५), *'वरद, वनदाभ, वागीश, विश्वात्मा, विरज, वैकुंठ-मंदिर-विहारी।'* (विनय० ५६) *'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।'* (१। १०४) इसीलिये वह मङ्गल-स्मरण करते ही अपने स्वामीका यशगान करने आती है, पर यहाँ आनेपर कविने उसको परपतिकी सेवामें लगाया। प्राकृत पुरुषोंका यशगान कराना परपतिसेवामें लगाना है। अतः वह पछताने लगती है कि मैं इस संसारीके यहाँ क्यों आयी, किसके पाले पड़ गयी? द्विवेदीजी लिखते हैं कि कवितामें प्रायः अत्युक्ति

---

१ लगति—१७२१, १७६२, छ० भा० दा; को० रा०। लगत—१६६१। लागि—ना० प्र०, गौड़जी। लाग—रा० प्र०।

और झूठी बातें भरी रहती हैं। इसलिये नरकाव्य करनेमें झूठी बातोंके कारण सरस्वती पछताने लगती हैं; क्योंकि नरकाव्यमें मुखकी उपमा चन्द्रसे, स्तनकी उपमा स्वर्णकलशसे दी जाती है, जो सब मिथ्या ही हैं। इसीपर भर्तृहरिने लिखा है कि '**मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्**।' इत्यादि। भगवान् सर्वव्यापक, सर्वगुणमय हैं। इसलिये उनके वर्णनमें सभी बातें सत्य होनेहीसे सरस्वती प्रसन्न होती है और अपने परिश्रमको सुफल मानती है।'''''। सू० मिश्रजी लिखते हैं कि सरस्वती यह देखती हैं कि स्तुति करनेवाला दीन हो बार-बार स्तुति किये चला जाता है, हर्षका लेश भी नहीं रहता है, प्रतिष्ठा भी चली जाती है, तब सरस्वती पछताने लगती हैं। लिखा है, '**याचना माननाशाय**', '**मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके**'। (रा० प्र०) बैजनाथजी लिखते हैं कि प्राकृत कविका सारा दिन जो इस तरह आशा, दीनता, निरादर, अमानता और दु:खमें बीतता है, यह सरस्वतीकी अप्रसन्नताका फल है।

☞ मिलान कीजिये—'**हरेर्जन्मकर्माभिधानानि श्रोतुं तदा शारदा भर्तृलोकादुपेत्य। जनानां हृदब्जे स्थिता चेन्न वक्ति शिरो धुन्वती सैव तूष्णीं करोति**॥ (सत्संगविलास। संस्कृतखर्रा।) अर्थात् भगवान्के जन्म, कर्म और नामादि सुननेके लिये सरस्वती अपने पतिके लोकसे लोगोंके हृदयकमलमें आकर स्थित होती है। यदि वह कवि जन्म-कर्मादिका गुणगान न करे तो वह माथा ठोंककर उदास हो जाती है।

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति[1] सारदा कहहिं सुजाना॥ ८॥
जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥ ९॥

शब्दार्थ—**सीप**=शंख या घोंघे आदिकी जातिका एक जलजन्तु जो कड़े आवरणके भीतर बन्द रहता है और तालाब, झील, समुद्र आदिमें पाया जाता है। मोती समुद्री सीपमें ही होता है। **स्वाति**=यह एक नक्षत्र है।

अर्थ—सुजान लोग कहते हैं कि हृदय समुद्र, बुद्धि सीप और स्वाती सरस्वतीके समान है॥ ८॥ जो (शारदारूपी स्वाती) श्रेष्ठ विचाररूपी उत्तम जलकी वर्षा करे तो कवितारूपी सुन्दर मुक्तामणि (उत्पन्न) होते हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ '*हृदय सिंधु*''''' ' इति। (क) '**समान**' का अन्वय सबमें है। हृदय सिंधुसम गम्भीर हो, मति सीपके समान कवितारूपिणी मुक्ता उत्पन्न करनेवाली हो। स्वातीको शारदाके समान कहते हैं। 'सिंधुमें सीप है, हृदयमें मति है, सीप स्वातीके जलको ग्रहण करती है, वैसे ही मति विचारको ग्रहण करती है।' (ख) 'सरस्वतीके दो रूप हैं। एक मूर्त्तिमती सरस्वती, दूसरी वाणीरूप। कथा सुननेको मूर्त्तिमती सरस्वती ब्रह्मलोकसे आती है, जैसे श्रीहनुमान्जी आते हैं, और विचार देनेको वाणीरूपसे हृदयमें है। यहाँ दोनों रूप कहे।'

नोट—१ यहाँ साङ्गरूपक और उपमाका सन्देह संकर है। '*जौं बरषै बर बारि बिचारू।*''''' ' में रूपक और सम्भावनाकी संसृष्टि है।

नोट—२ '*जौं बरषै बर बारि*' इति। भाव कि—(क) स्वातिजल हर जगह नहीं बरसता, इसके बरसनेमें सन्देह रहता है। यथा, '*कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी*' (कि० १६)। इसी तरह सरस्वतीजी सब कवियोंकी बुद्धिमें श्रेष्ठ विचाररूपी जल नहीं बरसातीं। पुन:, समुद्रमें अनेक जीव और अनेक सीप हैं, परन्तु स्वाती सीपहीपर और वह भी सब सीपियोंपर नहीं कृपा करती है। वैसे ही जगत्में अनेक कवि हैं। सरस्वतीकी कृपा जब-तब किसी-ही-किसीपर होती है। इसलिये संदिग्ध '*जौं*' पद दिया। (ख) स्वातीके जलसे अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसीलिये जलको श्रेष्ठ कहा। '*बर*' शब्द 'वारि' और '*बिचार*' दोनोंके साथ है। इसी

१ स्वाती सारद—१७२१, १७६२, छ०, को०, रा०, १७०४। स्वाति सारदा—१६६१।

तरह *'चारू'* पद *'कवित'* और *'मुक्तामणि'* दोनोंके साथ है। (ग) बैजनाथजीका मत है कि यहाँ मनादि मेघ हैं, *'बर बिचार'* जल है। भाव यह कि मनका तर्क, चित्तका स्मरण, अभिमानका दृढ़ निश्चय इत्यादि। *'बर बिचार'* रूप जल बरसा अर्थात् सब एकत्र होकर बुद्धिरूपी सीपमें विचार जल आकर थिर होनेपर निश्चय हुआ। फिर बैखरीद्वारा प्रकट हो सुन्दर कवितारूप मुक्तामणि होते हैं। (घ) विनायकी टीकाकार इन अर्धालियोंका भाव यह लिखते हैं कि गम्भीर बुद्धिवाले हृदयमें श्रेष्ठ मतिके कारण उत्तम वाणी प्रकट होकर शुद्ध विचार कवितारूपमें प्रकाशित होवे तो यह कविता बहुत ही सुन्दर सुहावनी होगी।

नोट—३ मति (बुद्धि) को सीपहीकी उपमा देनेका कारण यह है कि स्वातिबिन्दु केवल सीपहीमें नहीं पड़ता, वरञ्च और भी बहुत वस्तुओंमें पड़ता है जिसमें पड़नेसे अन्य-अन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यथा—*'सीप गए मोती भयो, कदली भयो कपूर। अहिगणके मुख विष भयो, संगतिको फल सूर॥'* इसी तरह हाथीके कानमें पड़नेसे मुक्ता होती है, गऊमें पड़नेसे गोरोचन और बाँसमें पड़नेसे बंसलोचन होता है। परन्तु सीपके मुखमें पड़नेसे जैसा मोती होता है ऐसा अनमोल पदार्थ स्वातिजलसे और कहीं नहीं होता। गम्भीर हृदयवाले सुकविकी मतिको सीपसम कहा; क्योंकि इससे श्रीरामयशयुक्त सुन्दर कविता निकलेगी। यदि कुकविकी बुद्धिमें शारदास्वाती बरसे, तो वह प्राकृत मनुष्योंका गुण-गान करता है।

दो०—जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥ ११॥

शब्दार्थ—**जुगुति**=युक्ति=कौशल (तरकीब)।

अर्थ—(उन कवितारूपी मुक्तामणियोंको) युक्तिसे बेधकर फिर श्रीरामचरितरूपी सुन्दर तागेमें पोहा जावे, (तो उस मालाको) सज्जन अपने निर्मल हृदयमें पहिनते (धारण करते) हैं, जिससे अत्यन्त अनुरागरूपी शोभा (को प्राप्त होते हैं)॥ ११॥

नोट—१ *'हृदय सिंधु मति सीप समाना'* से यहाँतक 'साङ्गरूपकालङ्कार' है। यह रूपक निम्नलिखित मिलानसे भलीभाँति समझमें आ जायगा। *'पहिरहिं''''''अनुराग'* में तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

उपमेय		उपमान
हृदय	१	सिंधु
मति (बुद्धि)	२	सीप
शारदा	३	स्वाती नक्षत्र (के मेघ)
सरस्वतीकी अनिश्चित अवतारणा	४	स्वातीकी क्वचित् वर्षा
बर बिचार	५	बर बारि
कविता	६	मुक्तामणि
बारीक युक्तिसे कविताकी शोभा	७	बारीक छिद्रसे मोतीकी शोभा
युक्ति	८	सुई, सूक्ष्म वा बरमा, सराँग
कवितामें युक्तिसे रामचरितरूपी श्रेष्ठ तागका अवकाश करना	९	मोतीमें सुईसे बेधकर छिद्र करना।
रामचरितका कविताके भीतर (वर्णन रूप) प्रवेश करना।	१०	डोरेका मोतीके भीतर पोहना।
☞ सब पदोंकी योजना रामचरितहीमें करना 'पोहना' है।		
रामचरित	११	तागा
रामचरितयुक्त कविता	१२	मोतीकी माला

उपमेय		उपमान
हृदयमें धारण करना	१३	हृदयपर पहिनना
सज्जन	१४	लक्ष्मीवान्
अनुरागातिशय	१५	शोभा

नोट—२ इस ग्रन्थमें युक्ति सराँग है, रामचरित तागा है और एक संवादके अन्तर्गत दूसरा संवाद होना छिद्र है। अर्थात् गोस्वामीजी और सज्जन संवादके अन्तर्गत याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद है, तदन्तर्गत शिव-पार्वती-संवाद है, जिसके अन्तर्गत भुशुण्डि-गरुड़-संवाद है।

पं० रामकुमारजी—१ (क) 'प्रथम प्राकृतजनोंके गुणोंसे युक्त कविताकी अशोभा कही, जिसे सुनकर सरस्वतीको दुःख हुआ। अब रामचरितयुक्त कविताकी शोभा कही, जिसके धारण करनेसे सज्जनकी शोभा हुई।

(ख) प्रथम कविताको गजमुक्तासम कहा। यथा—*'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी।''''''*', अब उसे सिंधु-मुक्तासम कहते हैं। यथा—*'हृदय सिंधु मति सीप समाना'।* रामचरितहीन कविता गजमुक्तासम है तो भी शोभा नहीं पाती, जब नृप या युवती स्त्री धारण करे तब शोभा पाती है और रामचरितयुक्त कविता जलमुक्ता-सम है जो इतनी सुन्दर है कि सज्जनको शोभित कर देती है। इसी भावको लेकर पहले मणिमाणिक्यमुक्ताको नृपके मुकुट और तरुणीके तनसे शोभा पाना कहा था। यथा—*'लहहिं सकल सोभा अधिकाई'।* और यहाँ मुक्ताहारसे सज्जनकी शोभा कही।

श्रीजानकीदासजी—यहाँ अन्योन्यालङ्कार है। मोतीकी शोभा राजाओंके यहाँ होती है और राजाके अङ्गकी शोभा मोतीसे होती है। इसी तरह रामचरितयुक्त कविता सन्तसमाजमें शोभित है और सन्तसमाजकी शोभा उस कवितासे है। रामचरितयुक्त कविता वा पदके गाने या मनन करनेसे हृदय प्रफुल्लित होगा, कण्ठ गद्गद होगा, यही अनुराग है जिससे सज्जनकी शोभा होगी। *'नृप किरीट तरुनी तन'* ही यहाँ सज्जन-समाज है।

नोट—३ *'पहिरहिं सज्जन''''''सोभा अति अनुराग'* इति। (क) अर्थात् अनुराग ही शोभा है। भाव यह है कि रामचरित सुनकर यदि अनुराग न हुआ तो उस प्राणीकी शोभा नहीं है। *'अति अनुराग' 'अति शोभा'* है। अर्थात् जैसा ही अधिक अनुराग होगा, वैसी ही अधिक शोभा होगी। पुनः, भाव यह कि जो 'विमल उर' नहीं है वे इसे नहीं पहिनते। *'अति अनुराग'* का भाव यह है कि अनुराग तो प्रथमसे था ही, पर इसके धारण करनेसे *'अति अनुराग'* उत्पन्न होता है। पुनः, जो 'विमल उर' नहीं हैं उनको अनुराग और इनको अति अनुराग होता है। (ख) बाबा हरिहरप्रसादजी—लिखते हैं कि यहाँ *'बर ताग'* का भाव यह है कि और मालाओंके तागे टूट जाते हैं, यह तागा नहीं टूटता। मोतियोंकी माला राजाओंको प्राप्त है, वैसे ही यह 'विमल उर' वाले सज्जनोंको प्राप्त है।

नोट—४ (क)—मणि मोतीके सम्बन्धमें *'जुगुति'* (युक्ति) से 'चतुराई' का तात्पर्य है, क्योंकि मोती बेधनेमें बड़ी चतुरता चाहिये, नहीं तो मोतीके फूट जानेका डर है। मुक्ता सराँगसे बेधी जाती है। टीकाकार महात्माओंके मतानुसार यहाँ युक्ति सराँग है। (ख) कविताके सम्बन्धमें युक्ति यह है कि शब्दोंको इस चातुरीसे रखे कि कहनेवालेका गुप्त आशय भलीभाँति प्रकट हो जाय और सुननेवालेके हृदयमें चुभ जाय। (ग) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि गोस्वामीजीका काव्य युक्ति अर्थात् चातुरीसे परिपूर्ण है। प्रथम युक्ति वन्दनाहीसे देखिये। वन्दना व्याजमात्र है। इसमें सबके अन्तमें युगल सरकार श्रीसीतारामजीकी वन्दना लिखकर दोनोंकी प्राप्तिका साधन बताया। फिर नामवन्दना करके नामको नामीसे बड़ा बताया। मानसके रूपकमें भी चातुरी विचारने योग्य है। गोस्वामीजीकी युक्ति द्वितीय सोपानमें और भी सराहनीय है। श्रीभरतजीकी भक्ति शुद्ध शरणागति है। वे प्रेमापराके रूप ही हैं, आदर्श हैं। काण्डभरमें भरतजीकी महिमा, रीति और भक्ति भरी है। यह गोस्वामीजीका स्वतन्त्र सिद्धान्त है।

नोट— ५ मिलान कीजिये '**चेतः शुक्तिकया निपीय शतशः शास्त्रामृतानि क्रमाद्वान्तैरक्षरमूर्तिभिः सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिताः। उन्मीलत्कमनीयनायकगुणग्रामोपसंबलगणप्रौढाहंकृतयो लुठन्ति सुहृदां कण्ठेषु हारस्रजः॥**' (अनर्घराघव नाटक १। ५) '**सीता प्रीत्यै सुप्रीत्या विशदगुणगणैर्गुम्फिता गीर्वधूभिर्गद्यैः पद्यैरनेकैरतिशय-रुचिरैर्मौक्तिकै राजिता च। शृङ्गाराद्यैरुपेता रघुपतिचरण प्रीतिदा भक्तिभाजाम्। सीताशृङ्गारचम्पूः स्रगिवसुहृदये भाति मे सज्जनानाम्॥**' (श्रीसीताशृङ्गारचम्पू) अर्थात् बुद्धिरूपी सीपीने शास्त्ररूपी जल पीकर सैकड़ों अक्षरों-रूपी मोतियाँ जो क्रमसे उगली हैं उन मोतियोंके द्वारा कवियोंने मालाएँ गुही हैं। प्रसिद्ध सुन्दर नायकके गुणसमूहके कथनसे जिनको बहुत अभिमान हो गया है, ऐसी वे सुन्दर (कवितारूपी) मालाएँ सज्जनोंके हृदयरूपी कण्ठमें ही विराजती हैं। (अनर्घराघन नाटक १। ५)। पुनः, वाणीरूपी स्त्रियोंने श्रीजानकीजीकी प्रसन्नताके लिये अपने प्रेमसे गद्यपद्यरूपी अत्यन्त सुन्दर मोतियोंसे सुशोभित और शृङ्गारादि रसोंसे युक्त तथा विशद गुणगणरूपी स्त्रियोंद्वारा गुही हुई श्रीरामपदप्रीति देनेवाली यह मेरी सीताशृङ्गारचम्पू मालाकी नाईं भक्तजनोंके हृदयमें विराजती है (श्रीसीताशृङ्गारचम्पू)।

जे जनमे कलिकाल कराला। करतब बायस बेष मराला॥ १॥
चलत कुपंथ बेद-मग छाड़े। कपट कलेवर कलिमल भांड़े॥ २॥
बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥ ३॥

शब्दार्थ—**कराल**=कठिन, भयानक। **करतब** (कर्तव्य)=काम, करतूत, करनी। **कुपंथ**=कुमार्ग; बुरी राहपर। **मग**=मार्ग; रास्ता। **कलेवर**=शरीर, देह। **भाँड़ा** (सं० भाण्ड)=बरतन; पात्र। **बंचक**=ठगनेवाला, धूर्त, पाखण्डी। यथा—'***लखि सुबेष जग बंचक जेऊ।***' **किंकर**=दास। **कंचन**=सोना, **कोह**=क्रोध।

अर्थ—जिनका जन्म कठिन कलिकालमें हुआ है, जिनकी करनी कौवेके समान है और वेष हंसका-सा॥ १॥ जो वेद (के बताये हुए) मार्गको छोड़कर कुमार्गमें चलते हैं, जिनका कपटहीका शरीर है, जो कलियुगके पापोंके पात्र हैं॥ २॥ ठग हैं, श्रीरामजीके तो भक्त कहलाते हैं, परन्तु हैं दास लोभ, क्रोध और कामके॥ ३॥

नोट—१ रामचरितयुक्त कवितामालासे सज्जनकी शोभा कही। उसपर यह प्रश्न होता है कि क्या आपकी कविता ऐसी बनी है? इसका उत्तर अब देते हैं कि यह तो मैंने सत्कवियोंके काव्यके लिये कहा है और मेरी दशा तो यह है कि '***जे जनमे*****' इत्यादि।

नोट—२ (क) '***जे जनमे कलिकाल कराला***' इति। कलि सब युगोंसे कठिन और भयंकर युग है 'जैसा उ० ९७ से १०१ तकमें कहा है। '***सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥***' ''''***बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥***' '***द्विज श्रुति बंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥***'''''***निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥***' पुनः, '***कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥***' (२६)। (ख) '***जे जनमे कलिकाल***' का भाव यह है कि कलिकालमें पैदा हुए हैं, इसलिये कलिके धर्मको ग्रहण किये हैं जो आगे कहते हैं। '***जे जनमे कलिकाल कराला***' कहकर फिर '***करतब बायस***' इत्यादि कलिके भक्तिविरोधी धर्म कहनेका भाव यह है कि कलिमें ऐसे अधर्मियोंका जन्म होता है। यथा—'***ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक बृन्द बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥*** (७। ४०)। यहाँ यह अर्थ नहीं है कि जो भी कलिकालमें जन्म लेते हैं वे सभी ऐसे होते हैं। सृष्टिमें दैवी और आसुरी दोनों सम्पत्तिके लोग सदा जन्म लेते रहते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि कलिकालमें आसुरी सम्पत्तिकी विशेष वृद्धि होती है। 'कलिकालमें जो इस तरहके लोग जनमे हैं' यह आशय है। पुनः, (ग) भाव यह कि एक तो कलिमें जन्म हुआ, यही बुरा और फिर उसपर भी वेष हंसका किये हैं और कर्त्तव्य कौवेका-सा है। इत्यादि। (करु०) (घ) '***करतब बायस***' अर्थात् छली, मलिन, अविश्वासी और पक्षपाती हैं। यथा—'***काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन***

कतहुँ न प्रतीती॥' (२। ३०२) ***'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला॥'*** (७। ११२) पुनः (ङ) पापका रूप काला है, कौआ भी काला है। ये सब पाप करते हैं, अतः ***'बायस'*** सम कहा। (च) ***'बेष मराला'*** इति। वेष शुक्ल है, उज्ज्वल है और हंसका रंग भी शुक्ल है।

नोट—३ 'कलियुगमें पैदा होनेवालोंकी करनी काकवत् होती है पर इसी कलिमें तो अगणित सन्त भक्त हो चुके हैं और हैं, तब उपर्युक्त कथनसे विरोध पड़ता है' यह शङ्का उठाकर लोगोंने युक्तिसे उसका समाधान किया है। ***'जे जनमे'***=जे जन में=जिस मनुष्यमें (कराल कलिकालने निवास किया है उसका कर्तव्य……)। (वै०)। इत्यादि और भी समाधान किये हैं। पर दासकी समझमें यह शङ्का मूलके शब्दोंसे उठ ही नहीं सकती। कवि यह नहीं कहता कि जो भी जन्मे हैं वे सब ***'करतब बायस……'*** हैं, किन्तु जो कलिमें ***'करतब बायस……काम के'*** ऐसे लोग जन्मे हैं ***'तिन्ह महँ प्रथम……।' 'करतब बायस……काम के'*** यह सब ***'जे'*** का विशेषण है। ***'जे'*** का सम्बन्ध आगे ***'तिन्ह……'*** से है। जो कलिकालमें पैदा हुए हैं, पर जिनके आचरण ऐसे नहीं हैं, उनकी गणना यहाँ नहीं है। ***'कलिकाल'*** शब्द देकर जनाया है कि खल और युगोंमें भी होते हैं पर कलिके ऐसे किसीमें नहीं होते।

नोट—४ (क) ***'चलहिं कुपंथ बेद मग छाँड़े'*** इति। यथा—***'दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किये बहु पंथ।'*** (७। ९७) दम्भियोंके प्रकट किये हुए पंथ ही 'कुपंथ' हैं। (ख) ***'कपट कलेवर'*** कहनेका भाव यह है कि कपटरूप हैं, उनका शरीर क्या है मानो कपट ही रूप धारण करके आ गया है। कलियुग कपटी है। यथा— **'कालनेमि कलि कपट निधानू'** (२७); इसीसे जो कलियुगमें जनमे उनको कपटरूप कहा। (ग) ***'कलिमल भाँड़े'*** इति। भाव यह है कि जैसे पात्रमें जल आदि वस्तु रखी जाती है वैसे ही इनमें पाप भरे हुये हैं।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कपट और कलिमल दोनोंको अलग-अलग कहा। यथा—***'करतब बायस बेष मराला।'*** यह कपट है और ***'चलत कुपंथ बेद मग छाँड़े।'*** यह कलिमल है। अब आधी चौपाई ***'कपट कलेवर कलिमल भाँड़े'*** में दोनोंको एकत्रित कर दिया है। (ख) ***'बंचक भगत'*** के साथ ***'कहाइ'*** पद दिया और कंचनादिके साथ ***'किंकर'*** पद दिया; क्योंकि ये रामजीके कहाते भर हैं, उनके किंकर हैं नहीं, किंकर तो लोभ, क्रोध और कामके हैं। जैसे हैं, वैसा ही लिखा। कोह कामके साहचर्यसे कंचन 'लोभ' का वाचक है। द्रव्य ठगनेको वेष बनाया, इसलिये लोभको पहले कहा। काम, क्रोध, लोभके किंकर होना भी कलिका प्रपंच है। यथा—***'साँची कहौं, कलिकाल कराल! मैं ढारो-बिगारो तिहारो कहा है। कामको, कोहको, लोभको, मोहको मोहिसों आनि प्रपंचु रहा है॥'*** (क० उ० १०१)

तिन्ह महं प्रथम रेख जग मोरी। [1]धींग धरम ध्वज[2] धंधक धोरी॥ ४॥

शब्दार्थ—रेख=गिनती। यथा—***'रामभगत महँ जासु न रेखा',*** **धींग** =धिक=धिक्= धिक्कार, लानत, निंदित, धिक्कार-योग्य। **धरमध्वज**=जो धर्मकी ध्वजा (झण्डा) खड़ा करके अपना स्वार्थ साधे; धार्मिकोंका-सा वेष और ढंग बनाकर पुजानेवाला; पाखण्डी। धर्मका झण्डा। **धोरी**=बोझा ढोनेवाला।=धुरेको धारण करनेवाला। यथा—**'फेरति मनहिं मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी।।'** (अ०२३४)।=बैल। यथा—**'समरथ धोरी कंध धरि रथ ले ओर निबाहिं। मारग माहिं न मेलिए पीछहिं बिरुद लजाहिं।।'** (दादू)।=प्रधान, मुख्य, अगुआ (रा० प०)। यथा—***'कुँवर-कुँवर सब मंगल मूरति, नृप दोउ धरमधुरंधर-धोरी'*** (गी०१। १०४)। =वह बैल जो गाड़ीमें दोनों बैलोंके आगे लगता है जब बोझ अधिक होता है। **धंधक**=धंधा। जैसे ***'मन***

१— धिग। २— धंधक—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, पं० शिवलाल पाठक। १६६१में 'धीग' है और 'धंध्रक' के रकारपर हरताल दिया है। १७०४ में 'धीग' 'धंधरच' कहा जाता है पर रा० प० में 'धिग' 'धंधरच' है। शं० सा० में 'धीग' शब्द नहीं है, 'धींग' शब्द है जिसके अर्थ 'हट्टाकट्टा मनुष्य' 'कुमार्गी', 'पापी', 'बुरा' इत्यादि दिये हैं। यथा, 'अपनायो तुलसी सो धींग धमधूसरो।' मानसाङ्कमें 'धींगाधींगी करनेवाला' अर्थ किया है। यदि इसे 'धींग' मान लें तो ये सब अर्थ लग सकते हैं।

क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥' (आ० १०) और ***'कीन्हेहु बिरोध तेहि देवक।'*** में ***देवक*** =देवका। वैसे ही ***धंधक***=धंधेका। (पं० रा० कु०)। यह शब्द तिरस्कारके भावमें 'खोटे या निकम्मे धंधे' के भावमें प्रयुक्त हुआ है। (गौड़जी) मिथिलाकी ओर इसे 'धन्धरक' कहते हैं।

अर्थ—संसारमें ऐसे लोगोंमें सबसे पहले मेरी गिनती है। जो धिक्कारयोग्य धर्मकी ध्वजा हैं और खोटे धन्धोंकी गाड़ीको खींच ले जानेवाले धोरी हैं॥ ४॥[3]

नोट—१ (क) ***'तिन्ह महं प्रथम रेख'*** इति। अर्थात् जबसे कलियुग शुरू हुआ तबसे आजतक जिनका जन्म हुआ और जिनके धर्म-कर्म पहले तीन चौपाइयोंमें कह आये हैं उन सबोंमें मुझसे अधिक पापी कोई नहीं है। ***'जग'*** कहनेका भाव यह है कि जगत्‌भरमें जितने अधम हैं, उन सबोंमें प्रथम मेरी रेखा है। पुनः भाव कि 'सत्ययुगमें दैत्य खल, त्रेतामें राक्षस खल और द्वापरमें दुर्योधन आदि जो खल थे, उनको नहीं कहते। जो कलियुगमें जन्मे उनमेंसे अपनेको अधिक कहा। क्योंकि कलिके खल तीनोंसे अधिक हैं।' (पं० रा० कु०) (ख) धीग धरमध्वज= (१) धिक्कारयोग्य जो पाखण्डियोंका धर्म है उसकी ध्वजा। (रा० प्र०)(२) उन पाखण्डियोंमें भी जो धृग अर्थात् अति नीच हैं। (करु०, रा० प्र०) (३) धर्मध्वजी लोगों वा धर्मध्वज बननेको धिक्कार है। (रा० प्र०) (४) 'ऐसे धर्मध्वजरूपी धन्धेवाले बैलोंको धिक्कार है।'

नोट—२ ***'धीग धरमध्वज धंधक धोरी'*** इति। (क) पाखण्डियोंका धिक्कारयोग्य (=निन्दित) जो कर्म धर्म है उसकी ध्वजाका धन्धारूपी बोझ ढोने या लादनेवाला हूँ। भाव यह है कि मेरा धन्धा यही है कि धिक्कारयोग्य धर्मका झण्डा फहरा रहा हूँ। ध्वजा या झण्डेसे दूरसे लोग पहचान लेते हैं कि उस देशमें किसका राज्य या दखल है, उस जगह अग्रगण्य कौन है; इसी तरह मैं निन्दित कर्म करनेवालोंमें अग्रगण्य हूँ। भाव यह कि 'जो अपनेको धर्मकी ध्वजा दिखाते हैं पर लगे हैं दुनियाके धन्धेमें।' (लाला भगवानदीनजी) (ख) पाण्डेजी यह अर्थ करते हैं कि 'जगमें' दो प्रकारके पुरुष हैं। एक धृक, दूसरे धर्मध्वज। जो धर्मकी ध्वजा दिखाकर ठगते हैं उनमें मैं वीर हूँ वा धुरी हूँ, मेरे आधारपर सब ठगनेवाले चलते हैं।' (ग) बाबा हरीदासजी यों अर्थ करते हैं—'मुझे धिक्कार है। मैं धर्मध्वजी हूँ। अर्थात् जो धर्म ईश्वरप्राप्ति एवं परलोकके साधक हैं, उनसे मैं उदरभरणहेतु नाना यत्न वेष बनाकर ऊपरसे करता हूँ और भीतर मन अहर्निश धन्धे (जगत्प्रपञ्च) में रहता है। जगत्प्रपञ्चका मैं धोरी हूँ। अतः मुझको धिक्कार है।'

नोट—३ (क) सुधाकर द्विवेदीजी—'धर्मध्वज उसे कहते हैं जो अभिमानसे अपने धर्मकी स्तुति कर धर्मकी पताका फहराते फिरते हैं कि मैंने यह धर्म किया, वह धर्म किया, इत्यादि। ***'धंधक धोरी'*** ये हैं जो थोड़े कामको बहुत जनाते हैं।' (ख) ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी कहते हैं कि 'धरमध्वज, धंधक, धोरी तीनों संज्ञा पद हैं और 'धिक' का अन्वय तीनोंमें है। 'धरमध्वज' हीकी तरह 'धंधक' और 'धोरी' का भी प्रयोग है। पुराने समयमें 'पाखण्डी, दम्भी और आडम्बरी' के भावमें इनका प्रयोग होता था। (ग) पं० शिवलाल पाठकजी लिखते हैं, ***'धीग धरम धंधक कथन, ध्वज धोरी यहि हेतु। चाचरि निज मुख लाइ रज, परमुख कारिख देतु॥'*** अर्थात्, 'गोस्वामीजीने अपनेको धृक धर्मसे पूरित शकटका धोरी कहा। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे होलीमें पहले अपने मुखमें धूल लगानेसे दूसरेके मुखको कालिख लगाते बनता है, वैसे ही ग्रन्थकारने यह नीचानुसन्धानवश अपनी निंदा कथनकर खलोंकी निंदासे अपनेको बचाया। यदि खल लोग इस मानसकी इतनेपर भी निंदा करें तो मानो स्वयं अपने हाथसे अपने मुखमें स्याही लगाते हैं। (अ० दीपक)

नोट—४ यहाँ केवल रामभक्तहीको क्यों 'बंचक' में गिनाया? उत्तर—रामभक्त सबमें श्रेष्ठ हैं। यथा—

३— अर्थान्तर—(१) ऐसे पाखण्डके धन्धेका बोझ ढोनेवालोंको धिक्कार है (बाबू श० सु० दा०)। (२) तिरस्कृत धर्मोंसे लदी हुई गाड़ीका धोरी हूँ। (मा० मा०) (३) व्यर्थ धन्धेमें बैलके समान लगा हूँ। (करु०) (४) जो धींगाधींगी करनेवाले, धर्मध्वजी (धर्मकी झूठी ध्वजा फहरानेवाले, दम्भी) और कपटके धन्धोंका बोझ ढोनेवाले हैं, संसारके ऐसे लोगोंमें सबसे पहले मेरी गिनती है। (मानसाङ्क)

'नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी।'...... 'सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया।।' (७। ५४) **'रामादन्यः परो ध्येयो नास्तीति जगतां प्रभुः। तस्माद्रामस्य ये भक्तास्ते नमस्याः शुभार्थिभिः॥'** (शिवसंहिता १। ८३, ८४) ऊँचा होकर पाप करना महान् अधमता है। जैसे सुक्षेत्रमें बीज बोनेसे वह अवश्य उत्पन्न होगा, वैसे ही एक पाप भी करनेसे लाखों पाप बढ़ेंगे। उत्तम लोगोंको ऐसा कदापि न करना चाहिये; इसीसे इन्हींको गिनाया। (वै०)

जौं अपने अवगुन सब कहऊं। बाढ़ै कथा पार नहिं लहऊं॥ ५॥
तातें मैं अति अलप बखाने। थोरे[१] महँ जानिहहिं सयाने॥ ६॥

अर्थ—जो मैं अपने सब अवगुणोंको कहूँ तो कथा बढ़ जायगी, पार न पाऊँगा॥ ५॥ इसीसे मैंने बहुत ही थोड़े कहे, चतुर लोग थोड़ेहीमें जान लेंगे॥ ६॥

नोट—१ (क) *'पार नहि लहउ'* का भाव यह है कि अपार हैं। यथा—*मैं अपराध-सिंधु'* (वि० ११७) *'जद्यपि मम औगुन अपार '* (वि० ११८), *'तऊ न मेरे अघ-अवगुन गनिहैं। जौं जमराज काज सब परिहरि, इहै ख्याल उर अनिहैं'॥* (वि० ५) यदि लिखकर अवगुणोंकी संख्या पूरी होनेकी आशा होती तो चाहे लिख भी डालता। (ख) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'अल्प बखाननेके दो हेतु कहे हैं। एक तो कथा बढ़नेका डर, दूसरे यह कि जो सयाने हैं वे थोड़ेहीमें जान लेंगे, बहुत कहनेका क्या प्रयोजन है? **'स्थालीपुलकन्यायेन।'** (ग) श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि इसमें यह ध्वनि है कि जो चतुर हैं, वे समझ जायेंगे कि महत्पुरुष अपना कार्पण्य ही कहा करते हैं। कार्पण्य भी षट्-शरणागतिमेंसे है। और, जो मूर्ख हैं, वे अवगुणसिंधु ही समझेंगे। वे इस बातको न समझ सकेंगे। (मा० प्र०)।

समुझि बिबिधि बिधि[२] बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी॥ ७॥
एतेहु पर करिहहि जे[३] असंका। मोहि तें अधिक ते[४] जड़ मति रंका॥ ८॥

अर्थ—मेरी अनेक प्रकारकी विनतियोंको समझकर कोई भी कथा सुनकर दोष न देगा॥ ७॥ इतनेपर भी जो शंका करेंगे वे मुझसे भी अधिक मूर्ख और बुद्धिहीन हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'समुझि'......'* का भाव यह है कि बिना कहे नहीं जानते थे, अब विविध विधिकी विनती सुनकर कथा सुनकर कोई दोष न देगा; यह समझकर कि ये तो अपने दोष अपने ही मुखसे कह रहे हैं। *'एतेहु'* अर्थात् इतनी विनती करनेपर भी शंका करेंगे, अर्थात् दोष देंगे। *मति रंका* =मतिके दरिद्र या कंगाल।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यदि कोई अभिमानसहित कोई बात कहता है तो उसपर सबको **'माष'** होता है, चाहे वह बात कैसी ही उत्तम क्यों न हो और अमान होकर एक साधारण मध्यम बात भी कहता है तो सुननेवाले प्रसन्न होते हैं, सामान्य लोग भी बुराई नहीं करते। अतएव मेरी बनायी हुई श्रीरामकथा सुनकर कोई दोष न देंगे, श्रीरामचरित तो उत्तम ही है पर मेरी अमानता भी उत्तम मानेंगे। *'मोहि ते अधिक'* का भाव कि मैं तो अपने ही मुखसे अपनेको जड कह रहा हूँ और इनको सब संसार बुरा कहेगा।

नोट—२ दो असम वाक्योंमें *'जे' 'ते'* द्वारा समता दिखाना प्रथम 'निदर्शना अलङ्कार' है।

कबि न होउं नहिं चतुर कहावों। मति अनुरूप रामगुन गावों॥ ९॥

१—थोरेहि—१७२१, १७६२, छ०। थोरे—१६६१, १७०३, को० रा०।

२-बिनती अब—१७२१, १७६२, छ०। बिधि बिनती—१६६१, १७०४। ३-जे संका—रा० प०, को० रा०। जे असंका— १६६१, १७२१, १७६२। ते असंका—१७०४ (शं० ना० चौ०); परंतु रा० प० में 'जे संका' है। ४-१६६१, में यहाँ 'जे' है। असंका=आशंका=शंका=अनिष्टकी भावना। यहाँ 'खोरी' के सम्बन्धसे 'दोष निकालनेकी भावना।'

अर्थ—मैं न तो कवि ही हूँ और न चतुर कहलाता हूँ। (वा, किसीसे अपनेको चतुर कहलवाता हूँ।) अपनी बुद्धिके अनुकूल श्रीरामजीके गुण गाता हूँ॥ ९॥

नोट—१ भाव यह है कि जो कवि हो, चतुर हो, उसकी कविताको दोष दें तो अनुचित न होगा। *'जड़मति रंक'* की कविताको दोष देना जडता है। यहाँतक अपने दोष कहे। (पं० रा० कु०)

नोट—२ ऊपर कहा था कि मणिमुक्तारूपी कविताके मालाको सज्जन धारण करते हैं। तत्पश्चात् यहाँतक अपना कार्पण्य दर्शित किया। भला मेरी ऐसी सामर्थ्य कहाँ कि ऐसी कविता बना सकूँ! मैंने तो जैसे-तैसे रामगुण गाया है। इसपर यह प्रश्न होता है कि 'यदि ऐसा है तो बिनती करनेकी क्या आवश्यकता थी?' उसका उत्तर आगे देते हैं।

नोट—३ **कवि**=काव्याङ्ग वर्णन करनेवाला। **चतुर**=व्याकरण आदि विद्यामें प्रवीण। (वै०)।

कहं रघुपति के चरित अपारा। कहं मति मोरि निरत संसारा॥ १०॥

जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥ ११॥

शब्दार्थ—**निरत**=आसक्त। **लेखा**=गिनती। **मारुत**=पवन, वायु, हवा। **मेरु**=सुमेरु पर्वत। **तूल**=रूई।

अर्थ—कहाँ तो श्रीरघुनाथजीके अपार चरित और कहाँ मेरी संसार (के विषयों) में आसक्त बुद्धि? ॥ १०॥ जिस हवासे सुमेरु आदि पर्वत उड़ जाते हैं, (उसके सामने भला) कहिये तो, रूई किस गिनतीमें है?॥ ११॥

नोट—१ इस चौपाईमें दो बार *'कहं'* शब्द आया है। *'कहं'* का मूल *'क्व'* है। यह संस्कृतका नियम है कि जहाँ *'क्व'* शब्दका प्रयोग दो बार हुआ हो, वहाँ अर्थमें इतनी विशेषता होती है कि जिसके साथ आया है उससे बहुत अन्तर जाना जाता है। '**द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः**।' एवं इस चौपाईमें दो बार *'कहं'* शब्द आया है; इससे ग्रन्थकारने यह दिखलाया कि रामचरित और मेरी बुद्धिमें बहुत अन्तर है। कहाँ यह, कहाँ वह!

नोट—२ इन चौपाइयोंमें 'प्रथम विषमालङ्कार' है, क्योंकि अनमिल वस्तुओं या घटनाओंके वर्णनमें ही 'विषमालङ्कार' होता है। यथा—*'कहाँ बात यह कहँ वहै, यों जहँ करत बखान। तहाँ विषमभूषन कहत, भूषन सुकबि सुजान॥'* (भूषणग्रन्थावली) वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ *'जेहि मारुत.....'* में काव्यार्थापत्ति है। अर्थात् वह तो उड़ी-उड़ायी ही है। यह अर्थ अपनेसे ही निकल पड़ता है यद्यपि काव्यमें नहीं कहा गया।

टिप्पणी—१ अब यहाँसे मनकी कादरता और धैर्य कहेंगे। *'जेहि मारुत गिरि'* का तात्पर्य यह है कि सुमेरुकी गुरुता नहीं रह जाती, वह हलका हो जाता है, तब रूई तो हलकी ही है। शारदा, शेष महेशादि बड़े-बड़े वक्ता सुमेरु हैं, रामचरित मारुत है, सब नेति-नेति कहकर रामचरित गाते हैं, यही आगे कहते हैं। अपनी बुद्धि और अपनेको तूलसम कहा।

नोट—३ कालिदासजीने भी ऐसा ही 'रघुवंश' काव्यमें कहा है। देखिये, *'लघु मति मोरि.....'* (दोहा ८। ५—७)। चरित अपार, यथा—*'रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कबि कौने लह्यो।'* (बा० ३६१)।

समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥ १२॥

दो०—सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।

नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥ १२॥

शब्दार्थ—**कदराई**=कादर हो जाता है, डरता है, हिचकता, कचुवाता या सकुचाता है। **नेति**=न इति, इतना ही नहीं है। **इति**=निदर्शन, प्रकाशक, इन्तहा, समाप्ति। आगम, निगम=मं० श्लो० ६ देखो।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी ऐसी असीम प्रभुता (वा, प्रभुताको अमित) समझकर कथा रचनेमें मेरा मन बहुत ही डरता है॥ १२॥ श्रीसरस्वतीजी, शेषजी, ब्रह्माजी, शास्त्र, वेद और पुराण जिसके गुणोंको 'नेति नेति' कहते हुए सदा गाया करते हैं॥ १२॥

नोट—१ **'समुझत अमित राम प्रभुताई'** इति। (क) यथा—**'वेदान्तवेद्यं कविमीशितारमनादि-मध्यान्तमचिन्त्यमाद्यम्। अगोचरं निर्मलमेकरूपं नमामि रामं तमसः परस्तात्॥'** (सनत्कुमारसंहिता। वै०) (ख) ***'राम प्रभुताई'*** इति। यथा—***'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥ निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥'''''*** (उ० ९१ से ९२ तक)। पुनः, ***'सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई।'*** (उ० ७४। १) पुनः, ***'जानु पानि धाए मोहि धरना'''''*** (उ० ७९। ६) से **'देखि चरित यह सो प्रभुताई।'** (८३। १) तक; इत्यादि।

पं० रामकुमारजी—१ ***'सारद''''''गान'*** इति। ***'नेति नेति'*** 'इति नहीं है' ऐसा कहकर गुणगान करते हैं। भाव यह है कि उन्हें गुणगानसे प्रयोजन है, इति लगानेसे प्रयोजन नहीं है। ऐसे वक्ता हैं और निरन्तर गुणगान करते हैं, तो भी इति नहीं लगती, रामचरित ऐसा अपार है।

नोट—२ शारदाको प्रथम कहा, क्योंकि कहनेमें शारदा मुख्य हैं। सबकी जिह्वापर बैठकर शारदा ही कहती हैं, कथनशक्ति शारदाहीकी है।

नोट—३ इस दोहेमें शारदा-शेषादि सात नाम गिनाये हैं। सात नाम यहाँ देनेका क्या प्रयोजन है? चौपाईमें वक्ताओंको पर्वतकी उपमा दी थी। यथा—***'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं।'*** उसीका यहाँतक निर्वाह किया है। मुख्य प्रधान पर्वत गोस्वामीजीने सात गिनाये हैं। ***'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुर बासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिं ते ते॥ बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥'*** (अ० १३८) इसलिये सात प्रधान वक्ताओंके नाम दिये।

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी इस प्रभुताको सब जानते हैं तो भी कहे बिना किसीसे न रहा गया॥ १॥

नोट—१ (क) ***'सोई'*** अर्थात् प्रभुता जो पहले कह आये कि बड़े-बड़ोंकी बुद्धि भी वहाँ थक जाती है, जिससे मेरा मन सकुचाता है। (ख) यहाँ 'तीसरी विभावना' है। तो भी, तदपि, तथापि इसके वाचक हैं। ***'प्रतिबंधकके होतहू काज होत जेहि ठौर।''***

नोट—२ सू० प्र० मिश्र—***'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई'*** से लेकर ***'सपनेहु साँचेहु मोहि पर'''''*** तक ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि भजन-प्रभावके बिना हरिचरित्र वर्णन नहीं हो सकता। ईश्वर एक है और वह अन्तर्यामी भी है, भक्तोंके लिये अवतार धारण करता है और जिस तरहसे भक्तोंने महाराजका गुण वर्णन किया है उन बातोंको मनमें रखकर भगवत्माहात्म्य दिखलाते हैं।

नोट—३ ***'तदपि कहे बिनु'''''*** इति। भाव कि जैसे उपर्युक्त अपारता देखकर भी कोई रुका नहीं वैसे ही मैं भी भरसक कहूँगा।

तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥ २॥

शब्दार्थ—**प्रभाउ**=महिमा, प्रताप, प्रादुर्भाव। **राखना**=बताना।

अर्थ—इसमें वेदोंने यह कारण रखा (बताया) है कि भजनका प्रभाव बहुत तरहसे कहा गया है॥ २॥

नोट—१ ***'अस कारन राखा'*** यह पुराना मुहावरा है। अर्थात् यह कारण कहते हैं, कारण यह बतलाते हैं। अथवा, अन्वय इस प्रकार भी कर सकते हैं, 'तहाँ अस कारण राखा कि वेद भजन प्रभाव बहु भाँति भाषा है।' अर्थात् इसमें यह कारण रखा है कि वेदोंने भजनका प्रभाव बहुत तरहसे कहा

है। अर्थात् बहुत तरहसे पुष्ट करके दरसाया है (और यहाँतक भजनका प्रभाव कहा है कि *'एक अनीह अरूप अनामा।'''''*)

नोट—२ श्री पं० सुधाकर द्विवेदीजी इस अर्द्धालीका यह अर्थ लिखते हैं कि 'तिस कहनेमें भी वेदने ऐसा कारण रखा है कि कहनेका अन्त नहीं, इसलिये भजनहीके प्रभावको अच्छी तरह कहा है।'

नोट—३ पं० रामकुमारजी—*'तहाँ'* अर्थात् प्रभुकी प्रभुता कहनेमें। भाव यह है कि भजनका प्रभाव समझकर कविलोग रामचरित्र कहते हैं कि यह भजन है; इसका प्रभाव बहुत भाँतिका है, सो प्रभाव आगे दिखाते हैं। यथा—*'एक अनीह अरूप अनामा।'* इत्यादि विशेषणयुक्त ब्रह्म भक्तोंके हेतु देह धरते हैं और नाना चरित करते हैं। यह भजनका प्रभाव है।

'भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा' इति

श्रीमद्गोस्वामीजीकी कविता नैसर्गिक है। कविके हृदयमें श्रीरामचरित गान करनेकी उत्कट इच्छा है, यह बात ग्रन्थके आदिसे बराबर पद-पदपर झलक रही है। प्रथमहीसे वे चरित्र जाननेवालोंकी सहेतुक वन्दना करते चले आ रहे हैं।*'कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥'* (१२। ९) कहकर यशगान करनेको उत्सुक होते हैं। यहाँसे अब कविके हृदयका दिग्दर्शन करते चलिये। देखिये, कैसे-कैसे विचार उनके हृदयमें उठते-बैठते हैं, कैसे-कैसे असमञ्जसमें हमारे भक्त कवि पड़ रहे हैं और फिर कैसे उसमेंसे उबरते हैं।

कविके हृदयमें रामगुणगानकी उमंग उठते ही यह विचार स्फुरित हो आता है कि रघुपतिके चरित अपार हैं, मेरी बुद्धि विषयासक्त है। मैं क्योंकर गुणगान करूँ? बड़े-बड़े विमल मतिवाले शारदाशेषमहेशादि, यहाँतक कि वेद भी तो कह ही नहीं सके, फिर भला मेरी क्या मजाल!

यह विचार आते ही जी कदरा जाता है और कविकी हिम्मत टूट जाती है। ठीक नाटककी तरह कोई अदृश्य हाथ आकर उन्हें सहारा देता है। *'उर-प्रेरक रघुबंस बिभूषन', 'तस कहिहउँ हिय हरिके प्रेरे।'* (१। ३१) और कवि यह सोचने लगते हैं कि ये लोग तो चरितका पार पा न सके, *'नेति नेति'* कहते हैं, तो आखिर कथन ही क्यों करते हैं? इसका उत्तर उन्हें हृदयहीमें मिलता है कि वे पार पानेके लिये यशका कथन नहीं करते हैं। बुद्धि कारण ढूँढ़ने चलती है तो वेदोंको भगवान्‌का वाक्य और सबसे प्रामाणिक समझकर उसीमें बुद्धि निवेश करती है। देखते हैं कि वेदोंने भजनका प्रभाव बहुत तरहसे पुष्ट करके दर्शाया है और यहाँतक भजनका प्रभाव कहा कि जो *'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ व्यापक विश्वरूप भगवाना'* है, वही भक्तोंके भक्तिके प्रभावसे नर-शरीर धारण करके अनेक चरित करता है। ऐसा प्रभाव भक्तिका है। यह कारण वेदोंमें उनको मिला कि जिसको सोच-समझकर सभी भक्ति (भजन) करते हैं। श्रीरामयश-गान करना यह भी भजन है ऐसा विचारकर निरन्तर रामयश गाते रहते हैं और अपनी वाणीको सुफल करते हैं। कहा भी है कि *'जो नहिं करइ रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥'* (बा० ११३)

यह समाधान मनमें आता है। इससे पूर्वका संकोच दूर होता है, मनमें बल आ जाता है और कवि कथा कहनेपर तत्पर हो जाते हैं।

इस दिग्दर्शनके होनेसे *'तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभावउ भाँति बहु भाखा'*' के *'भजन प्रभाव'* का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि श्रीरामजीकी प्रभुता अमित है, यह समझकर श्रीगोसाईंजीका मन कदराने लगा तब वे विचारने लगे कि देखें तो कि 'कोई कवि यश गाकर पार हुए या नहीं?' 'और जो पार हुए, एवं जो नहीं पार हुए, उन्होंने फिर गाया कि नहीं?' यह विचारकर प्रथम उन्होंने देवकवियोंमें

देखा। शारदा-शेषादि देव कवि हैं। ये सब '**नेति नेति**' कहते हैं फिर भी गान करते हैं और इनको कोई दोष नहीं लगता। इनमें देखकर फिर मनुष्य कवियोंमें देखने लगे तो देखते हैं कि *'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई।।'* तत्पश्चात् सोचा कि वेद जगद्गुरु हैं देखूँ वे क्या आज्ञा देते हैं। देखा तो यह कारण उनमें धरा हुआ मिला कि भजनका प्रभाव बहुत भारी है। कोई किसी भी विधिसे श्रीरामयश-गान करे, चाहे साङ्गोपाङ्ग छन्द न बने, तो भी वह काव्य दोषरहित है और उससे भारी सुकृतकी वृद्धि होती है। यह भजनका प्रभाव वेदोंने बहुत भाँतिसे भाषण किया है। श्रीरामगुण-गानरूपी भजनका अनूठा प्रभाव अनेक प्रकारसे वेदों, शास्त्रों आदिमें वर्णित है। कितना ही थोड़ा क्यों न हो भवपार करनेको पर्याप्त है। वेदाज्ञा मिलनेपर प्रभुकी रीति देखते हैं कि उनका यश न गाते बने तो रुष्ट तो नहीं होते। तो देखा कि *'जेहि जनपर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥'* तब संतोष हुआ।

'भजन प्रभाव' पदका प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है। यथा—*'कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं॥ जासु त्रास डर कहँ डर होई। 'भजन प्रभाव' देखावत सोई॥'* भक्तिका प्रभाव बहुत ठौर श्रीरामचरितमानसमें मिलेगा। यथा—*''ब्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप। 'भगत हेतु' नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥'* (१। २०५) *ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्याके गोद॥'* (१। १९८) बालकाण्डहीमें मनुशतरूपा-प्रकरण दोहा १४४ में भी वेदोंका कथन लगभग ऐसा ही कहा गया है। यथा, *'अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥ ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।।'*

इनसे भी यही सिद्ध होता है कि *'भजन प्रभाव भाँति बहु भाषा'* से अगली चौपाइयोंमें जो कहा है उसीसे तात्पर्य है। *'भाखा'* =कहा* *'सो केवल भगतन्ह हित लागी'* आगे देकर सूचित किया कि भजनसे 'भक्ति'हीका मतलब है॥

सू० मिश्र—'यदि कोई कहे कि सब लोगोंको प्रेम क्यों हुआ? इसके ऊपर ग्रन्थकार लिखते हैं—*'तहाँ बेद अस कारन राखा।'* रुचिकी विचित्रताके कारण अनेक प्रकारसे कहा। *'रुचीनां वैचित्र्यादित्यादि।'* अतएव सब देशके सब जातिके भक्त लोग अपनी-अपनी टूटी-फूटी वाणी या कवितामें सब लोगोंने भगवान्‌के

---

*श्रीकरुणासिन्धुजी, श्रीजानकीदासजी इत्यादि कई महानुभाव 'प्रभाव' का अर्थ 'भाव' करते हुए इस चौपाईका अर्थ यों करते हैं कि 'वेदोंने इसका कारण यह दिया है कि भजनका प्रभाव बहुत भाँति है, बहुत रीति शोभित है और अनेक भाव हैं और अनेक वाणीसे है।' श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजा, दास्य, सख्य, शृङ्गार इत्यादि भाव, आत्मनिवेदन, वेद-पुराण-स्तोत्र-पाठ, जप-ध्यान-प्रेम, यज्ञादिक भगवदर्पण करना-ये सब भजन हैं। ('भाषा' का अर्थ ये दोनों महात्मा 'वाणी' करते हैं अर्थात् भजन बहुत भाषाओंसे हो सकता है। इसी तरह मैं अपनी वाणीमें भजन करता हूँ।)

बैजनाथजी लिखते हैं कि—'भजन करनेका प्रभाव बहुत भाँति कहा है। अर्थात् जीव अनेक भाव मानते हैं। जैसे कि शेष-शेषी, पिता-पुत्र, पुत्र-पिता, पत्नी-पति, जीव-ब्रह्म, सेवक-स्वामी, अंश-अंशी, नियम्य-नियामक, शरीर-शरीरी, धर्म-धर्मी, दीन-दीनदयाल, रक्ष्य-रक्षक, सखा-सखी आदि अनेक भाव हैं जिनसे भक्त भगवान्‌का भजन करता है। पुनः ब्रह्मके अनेक नाम, रूप और मन्त्र माने गये हैं। यावन्नाम हैं सब उसी ब्रह्मके हैं। कोई आदि ज्योति, कोई निराकार ब्रह्म, कोई बीज, कोई प्रणव, कोई सोऽहं इस प्रकार भजता है। कोई मानसी सेवा, कोई तीर्थव्रतयज्ञादि करके प्रभुको समर्पण करता है, कोई आत्मतत्त्व विचारता है, कोई साधुसेवा, कोई गुरुसेवा और कोई सर्वभूतात्मा मानकर सेवा करता है इत्यादि अनेक भजनके भाव हैं'। श्रीरामजीका स्वभाव सुरतरुके समान है, जिस तरहसे भी

गुणगान किये, कर रहे हैं और करेंगे। भक्तिका स्वरूप नवधा भक्ति करके लिखा है, इसमें जिसको जो प्रिय हो वह उसीके सहारे भव पार हो जाय।'

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ३॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥ ४॥

अर्थ—जो परमात्मा एक, इच्छा एवं चेष्टारहित, अभिव्यक्त रूपरहित, अभिव्यक्त नामरहित (एवं जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छा आदि प्राकृत नामोंसे रहित), अजन्मा, सच्चिदानन्दस्वरूप, सबसे परे धामवाला एवं श्रेष्ठ तेज या प्रभाववाला, सर्वचराचरमें व्याप्त, सारा विश्व जिसका रूप है एवं विराट्‌रूप और जो समस्त ऐश्वर्योंसे सम्पन्न है, उन्हीं भगवान्‌ने (दिव्य) देह धारण करके अनेक चरित किये हैं। (३-४)

नोट—१ इस चौपाईमें जो ब्रह्मका वर्णन किया गया है, उसमें दो भाग हो सकते हैं। एक निषेधमुख दूसरा विधिमुख। 'अनीह, अरूप, अनाम और अज' यह निषेधमुख वर्णन है और 'एक, सच्चिदानन्द, परधाम, व्यापक, विश्वरूप, भगवान्' यह विधिमुख वर्णन है। अद्वैतसिद्धान्तमें ब्रह्मको नामरूपरहित, निर्गुण और अनिर्वचनीय कहा गया है। अतः निषेधमुख वाक्योंको तो ठीक-ठीक लगाया जाता है परन्तु विधिमुख वाक्योंके अर्थ करनेमें कठिनता पड़ती है; क्योंकि इन वाक्योंका यथाश्रय अर्थ करनेसे ब्रह्मकी निर्गुणता तथा अनिर्वचनीयता नष्ट हो जाती है। इसलिये विधिमुख वाक्योंको अद्वैतसिद्धान्तमें निषेधात्मक ढंगसे लगाया जाता है। जैसे कि (१) एक-द्वि इत्यादि संख्यासे रहित। अर्थात् जिसके सिवा संसारमें दूसरा कोई नहीं है। (२) सत्=असद्भिन्न। चित्=अचिद्भिन्न। आनन्द=दुःखरहित। (३) परधाम और भगवान् ये दो विशेषण विद्योपाधि ब्रह्ममें (अर्थात् जिसको अद्वैतवादी सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं, उसीको लक्षित करके वे) लगाते हैं। (४) व्यापक और विश्वरूप ये दो विशेषण उस मतके अनुसार व्यावहारिक सत्ता लेकर कहे गये हैं। उपनिषदोंमें भी जब इस प्रकारका वर्णन आता है, तब वहाँ भी इसी प्रकार श्रुतियोंमें बाध्यबाधक भाव, लक्षणा आदि किसी प्रकारसे उनको लगाना पड़ता है। परन्तु विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमें ब्रह्मको दिव्य गुणोंसे युक्त तथा व्यक्त और अव्यक्त दो रूपवाला माननेसे उपर्युक्त विशेषणोंको ठीक-ठीक लगानेमें कठिनता नहीं पड़ती।

(१) *'एक'* इति। (क) **'द्वितीयस्य सजातीयराहित्यादेकमुच्यते'** अर्थात् सरकारी महिमाके तुल्य दूसरा नहीं होनेसे चेतनाचेतनमें अकेले विचरनेसे 'एक' नाम है। श्रुति भी कहती है—**'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।'** (श्वे० ६। ८) मानसमें भी कहा है, ***'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।'*** (३। ६) पुनः, (ख) **'एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एकः।'** अर्थात् अकेले ही सर्वत्र होनेसे 'एक' नाम है। पुनः, (ग) चेतनाचेतनविशिष्ट एक ब्रह्म होनेसे **'एक'** वा **'अद्वितीय'** है। जैसे प्रभाविशिष्ट एक सूर्य, पुत्रपौत्रादियुक्त एक सम्राट्, फेनतरंगादियुक्त एक समुद्र इत्यादि। (घ) समान वा अधिक दूसरा न होनेसे 'एक' कहा।

(२) *'अनीह'* इति। (क) अन्+ईह=इच्छा या चेष्टारहित। दृश्यमान् चेष्टारहित (रा० प्र०)। (ख) कभी प्रसन्न, कभी उदासीन वा अप्रसन्न, कभी हर्षित, कभी शोकातुर, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, कैशोर, युवा, वृद्धा आदि चेष्टाओंसे रहित सदा एकरस। (वै०) (ग) अनुपम। (पं०) एक और अनीह है तो

जो उनके सामने जाता है वे उसके मनोरथको पूरा करते हैं। यथा, ''देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥ (२। २६७) प्रभुने भी कहा है, 'सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ। ('७। ८७)।' इत्यादि विचारकर सब निश्चिन्त हो भजन करते हैं।'

भी देह धारण करता है यह अगली अर्धालीमें कहते हैं। इसमें भाव यह है कि सूर्यादि देवगण जगन्नियन्ताके डरसे अपने-अपने व्यापारमें नित्य लगे रहते हैं। यथा—'**भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति।**' (तैत्ति० बल्ली २। ८) अर्थात् परमात्माके डरसे वायु चलता है, सूर्य भ्रमण करता है, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु दौड़ते रहते हैं। भागवतमें भी कहा है, '**मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्। वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥**' (भा० ३। २५। ४२) (कपिल भगवान् देवहूतिजीसे कहते हैं। अर्थ वही है जो श्रुतिका है।) अथवा, शापादिके कारण भी देवता शरीर धारण करते हैं। परन्तु परमात्माके अवतारमें ऐसे कोई कारण नहीं होते; क्योंकि न तो कोई इनसे बड़ा है जिसके डरसे इन्हें देह धरना पड़े और न कोई इनके बराबरका है। यह सूचित करनेके लिये '***एक***' कहा। अच्छा शापादिसे न सही अपने ही स्वार्थ-साधनके लिये देहधारी होते होंगे? ऐसा भी नहीं है, क्योंकि वे तो पूर्णकाम हैं, उनको कोई इच्छा ही क्यों होगी? यह जनानेके लिये '***अनीह***' कहा गया।

(३) '***अरूप अनामा***' इति। (क) स्मरण रहे कि, '***एक, अनीह, अरूप, अनामा***' आदि सब विशेषण अव्यक्तावस्थाके हैं। '***तेहि धरि देह***' से पहलेके ये विशेषण हैं। अरूप है, अनाम है अर्थात् उस समय जिसका रूप या नाम व्यक्त नहीं है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'यहाँ तो केवल 'अरूप' 'अनाम' शब्द आये हैं तब अव्यक्त विशेषण देकर इनका संकुचित अर्थ क्यों किया जाता है?' तो उत्तर यह है कि ऐसा अर्थ करनेका कारण यह है कि श्रुतियोंमें अन्यत्र ब्रह्मके नाम और रूपका विशद वर्णन मिलता है। यथा, '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।**' (श्वे० ३। १४) '**सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके०॥**' (श्वे० ३। १६) और शास्त्रका सिद्धान्त यह है कि असत् वस्तुका कभी अनुभव नहीं होता और सद्वस्तुका कभी अभाव नहीं होता। यथा— '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**' (गीता २। १६)। इस सिद्धान्तानुसार अनुभूत और श्रुतिकथित नाम-रूपका अभाव नहीं होता। अतः यहाँ 'अव्यक्त नाम-रूपरहित' ऐसा अर्थ किया गया। टीकाकारोंने इनके अर्थ ये किये हैं—(ख) अरूप=दृश्यमान् रूप-रहित। (रा० प्र०)।=पञ्चतत्त्वोंसे बने हुए प्राकृत रूपरहित; देही-देहविभागरहित, चिदानन्द दिव्यदेहवाला। (वै०) (ग) अनाम=रूपके प्रकट होनेपर उसका नामकरण-संस्कार होता है। नाम चार प्रकारके होते हैं। जातिनाम जैसे, रघुवीर। गुणनाम जैसे, श्याम। क्रियानाम जैसे, खरारी। और यदृच्छानाम जैसे, प्राणनाथ, स्वामी, भैया आदि। ये सब साक्षर हैं। इन जातिगुणक्रिया-यदृच्छाके अनुसार जिसका नाम नहीं। राशि, लग्न, योग, नक्षत्र, मुहूर्त एवं सर्वक्रियाकालसे रहित जिसका नाम है। अथवा, जिसके नामकी मिति नहीं होनेसे 'अनाम' कहा। (करु०)।=किसीका धरा हुआ नाम नहीं होनेसे 'अनाम' कहा। (रा० प्र०)।=रामनाम अक्षरातीत है। अर्थात् रेफ और अनुस्वार केवल नाद बिन्दुमात्र है अतः अनाम कहा। (वै०)=सर्व जीवोंके हृदयोंमें अधिपतिरूपसे बसते हुए भी उन शरीरोंका नामी न होनेसे '***अनाम***' कहा।

(४) '***अज***' इति। (क) जिसका जन्म समझमें नहीं आता। अथवा, '**स्तम्भजातत्वादितरवन्नजातत्वादजः स्मृतः।**' अर्थात् भक्त प्रह्लादके लिये खम्भसे प्रकट होनेसे तथा इतर जीवोंके जैसा पैदा न होनेसे '***अज***' नाम कहा है। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्य) (ख) जिसका जन्म कभी नहीं होता। अर्थात् जीवोंका जन्ममरण उनके कर्मानुसार चौरासी लक्ष योनियोंमेंसे किसीमें एवं जो जीवोंकी उत्पत्तिकी चार खानें कही गयी हैं उनमेंसे किसीमें, बीज क्षेत्रादि कारणोंसे अथवा जिस किसी प्रकासे जीवोंका जन्म होता है वैसा इनका नहीं होता, ये सर्वत्र व्याप्त हैं, केवल प्रकट हो जाते हैं। यथा—'***बिश्वबास प्रगटे भगवाना।***' '***भए प्रगट कृपाला।***' (१। १९२) (वै०) (ग) जन्मरहित हैं। प्रादुर्भावमात्र स्वीकार करनेसे '***अजन्मा***' कहा। (रा० प्र०) पुनः (घ) यदि कोई कहे कि कश्यप-अदिति, वसुदेवजी और श्रीदशरथजीके यहाँ तो जन्म लिया है तो इसका उत्तर है कि प्रभुने जन्म नहीं लिया, वे प्रकट हुए हैं। यह नियम है कि जो जहाँ प्रकट

होता है वह उसीके नामसे कहा जाता है। जैसे हैमवती गङ्गा, भागीरथी गङ्गा तो भगवच्चरणसे निकली हैं पर प्रकट तो हिमपर्वतसे हुईं। अतएव 'हैमवती' नामसे कही जाती हैं। एवं भूलोकमें भगीरथ ले आये तब 'भागीरथी' कहलायीं। जह्नुराजर्षिसे प्रकटीं तब 'जाह्नवी' नाम पड़ा। पाणिनि ऋषिने भी लिखा है—**यतश्च प्रभवः**' और प्रकटका अर्थ यही है कि वस्तु पहलेसे थी वही प्रकट होती है, यह नहीं कि नहीं थी अब जनमी है; अतएव व्यासादिकोंने '**प्रादुर्बभूव ह**' लिखा है। इसीलिये अजन्मा लिखा है। अतएव विशेषण लिखा है '**न जायते इति अजः**'।

(५) '***सच्चिदानंद***' इति। (क) सत्=सत्तागुणवाला। सत्ता=अस्तित्व, स्थित रहना। सत्ता वह गुण है कि जिसके पास वह हो उसके विषयमें 'है' ऐसा कहा जाता है। अर्थात् जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंमें बना रहता है। जिसका कभी नाश नहीं होता, उसको 'सत्' कहते हैं। चित्=चैतन्य गुणवाला। चैतन्य=चेतना=ज्ञान। ज्ञान वह गुण है कि जिसके द्वारा भला-बुरा आदि जाना जाता है, वह गुण जिसके पास हो उसे 'चेतन' कहते हैं और जिसके पास वह न हो उसको 'जड' कहते हैं। अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य कालमें जहाँ जो कुछ हो गया, हो रहा है और होगा, उस सबको यथार्थरूपसे सदा जानते हैं तथा कोई भी विषय जिनको अज्ञात नहीं है उनको 'चित्' कहते हैं। आनन्द=आनन्द गुणवाला। आनन्द=सुख। आनन्द वह गुण है जिसको सब चाहते हैं, जिसकी प्राप्तिके लिये सभी यत्न कर रहे हैं। जिसके अनुकूल पदार्थ प्रिय तथा जिसके प्रतिकूल पदार्थ अप्रिय होते हैं। अर्थात् जो तीनों कालोंमें अपरिमिति तथा अविनाशी आनन्दसे परिपूर्ण है तथा दुःख या दुःखद क्लेश जिनके पास कभी नहीं आते उनको 'आनन्द' कहते हैं। संसारमें सब कोई चाहता है कि हम सदा बने रहें, हमारा कभी नाश न हो, हम सब बातें जान लें, कोई बात बिना जाने न रहें, हम सदा पूर्ण सुखी रहें, कोई दुःख या कष्ट हमें न हो; अतः सबको चाहिये कि वह श्रीरामजीके आश्रित होवे, क्योंकि इन सब गुणोंका खजाना उन्हींके पास है इत्यादि सब भाव 'सच्चिदानन्द' से सूचित होते हैं। पुनः (ख) अव्यय पुरुषकी जो पाँच कलाएँ (आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्) हैं, उनमें आनन्द प्रसिद्ध है। विज्ञान चित् है, मन, प्राण, वाक्की समष्टि सत् है। सत्-चित् आनन्दकी समष्टि ही 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' है। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी) (ग) असत् पदार्थरहित केवल सत् पदार्थ सर्वकाल एकरस, सदा एकरस चैतन्य, जिसकी चेतनतासे जड माया जगन्मात्र चैतन्य है और सबको साक्षीभूत है, जो सबकी गति जानता है और जिसकी गति कोई नहीं जानता। यथा—'***सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।***' सबको चैतन्य करता है और स्वयं केवल चैतन्यरूप है। पुनः हर्ष-शोक-रहित सदा एकरस अखण्ड आनन्दरूप है। (वै०)

(६) '***परधामा***' इति। (क) परधाम=दिव्य धामवाले। यथा, '**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।**' (ऋग्वेद० सं० १। २। ७) (ख) धाम=तेज, प्रभाव। परधाम=सबसे श्रेष्ठ तेज वा प्रभावाला (ग) परधाम=जिसका धाम सबसे परे है। (वै०,रा० प्र०)

(७) '***व्यापक***' इति। (क) अद्वैती मायिक जगत्में अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी व्याप्तिको लक्षित करके यह विशेषण लगाते हैं' परन्तु द्वैती कहते हैं कि व्यापक शब्द सापेक्ष है। अर्थात् व्याप्यके बिना व्यापकता बनती नहीं। अतः जगत्को व्याप्य (सत्यरूपसे) मानना आवश्यक है। उनका कथन है कि जैसे बालूमें शक्कर मिलायी जाय तो बालूके प्रत्येक कणके चारों ओर शक्कर ही रहती है, उसी प्रकार अचित्के परमाणु और अणुरूप जीवोंके चारों तरफ ब्रह्म ही व्याप्त रहता है; परमाणु या जीवाणुके भीतर ब्रह्मका प्रवेश नहीं होता; क्योंकि उन (द्वैती) के मतमें पाँच भेद हैं। ब्रह्मजीवभेद, ब्रह्मजडभेद, जीवजडभेद, जीवजीवभेद और जडजडभेद। प्रत्येकमें परस्पर भेद है। परन्तु इस प्रकारकी (शक्करबालूवत्) व्यापकतामें ब्रह्म परिच्छिन्न हो जाता है; क्योंकि अनन्त परमाणु तथा जीवाणुमें उसका प्रवेश न होनेसे उतना स्थान ब्रह्मसे रहित

है। अतएव विशिष्टाद्वैती इस व्यापकताको नहीं स्वीकार करते। वे परमाणु और जीवाणुमें भी ब्रह्मकी व्याप्ति मानते हैं। इनका कथन है कि जैसे नेत्र शीशेमें प्रवेश करता है' (क्योंकि प्रवेश न करता तो उसे दूसरी ओरकी वस्तु कैसे दिखायी पड़ती?) वैसे ही ब्रह्म भी परमाणु और जीवाणुमें प्रवेश करता है। ऐसा माननेसे उसकी ठीक-ठीक व्यापकता सिद्ध होती है। और, '**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मन् अन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।**' यह श्रुति भी यथार्थ संगत हो जाती है। यथा—'**अणोरणीयान्**' (कठोप० १। २। २०) इस श्रुतिका भी स्वारस्य आ जाता है। इस श्रुतिका तात्पर्य यह है कि बड़ी वस्तुमें छोटी वस्तुका प्रवेश हो सकता है, छोटी वस्तुमें बड़ीका प्रवेश नहीं होता, अतः अणुसे भी अणु कहनेका कारण यह है कि परमाणुमें भी ब्रह्मका प्रवेश माना जा सके।

(८) '***बिस्वरूप***' इति। (क) जैसे देहमें जीवका निवास होनेसे जीव देहके नामसे पुकारा जाता है और यह देह जीवका शरीर कहा जाता है, यद्यपि जीव न देह है और न देहका नाम उसका नाम है, वह तो चेतन, अमल, सहज सुखराशि है। इसी तरह सारे विश्वमें ब्रह्मके व्याप्त होनेसे, सारा विश्व ब्रह्मकी सत्तासे भासित होनेसे यह सारा विश्व भगवान्‌का देह वा रूप और भगवान्‌को 'विश्वरूप' कहा गया। यथा—'**यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्।**' (बृहदारण्यक ३। ७। १५) अथवा, (ख) विराट्‌रूप होनेसे विश्वरूप कहा। अथवा (ग) ब्रह्मके अङ्ग-अङ्गमें लोककी कल्पना करनेसे विश्वरूप कहा है। यथा—'***बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वासु। लोककल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥***' (६। १४) '***पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा॥ भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला॥ जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥ श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥ अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥ आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥ रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥ उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कलपना॥ अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥***' (६। १५) अथवा (घ) '**विश्वतः रूपं यस्य सः विश्वरूपः।**' अर्थात् जिसका रूप सब ओर है वह 'विश्वरूप' है। यथा श्रुति, '**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।**' ऋग्वेदसं०। पुनः यथा गीता '**सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥**' (१३। १३) अथवा (ङ) '**विश्वस्य रूपं यस्मात्**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार विश्वका रूप जिससे (लोगोंके अनुभवमें आता) है वह 'विश्वरूप' है। प्रलयकालमें विश्व अव्यक्त था। वह परमात्माकी इच्छासे स्थूलरूपमें होनेसे सबके अनुभवमें आ रहा है। इसीसे परमात्माको 'विश्वरूप' कहा। विशेष मं० श्लो० ६ में देखिये। अथवा (च) '**विश्वेन रूपयते इति विश्वरूपः।**' विश्वद्वारा जो जाना जाता है, वह 'विश्वरूप' है। अर्थात् जैसे कि जीवाणु वायुमण्डलमें सर्वत्र फैले हुए हैं, परन्तु उनका सर्वसाधारणको ज्ञान नहीं होता। वे ही जब प्रारब्धानुसार स्थूलदेहधारी होते हैं तब उस देहकी चेष्टादिके द्वारा उनके चेतनात्वका ज्ञान हो जाता है। वैसे ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी यदि यह स्थूल विश्व न होता तो हमें उनका ज्ञान न हो सकता, विश्वद्वारा ही उनका ज्ञान अनुमानादिद्वारा होता है, इसीसे उनको 'विश्वरूप' कहा गया।

(९)'***भगवाना***' इति। विष्णुपुराणमें 'भगवान्' का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है। यथा, '**यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम्॥ विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिरकारणम्। व्याप्यव्याप्तं यतः सर्वं यद्वै पश्यन्ति सूरयः॥ तद्ब्रह्म तत्परं धाम तद्ध्येयं मोक्षकाङ्क्षिभिः। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्॥ तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः। वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः॥**' (अंश ६ अ० ५। ६६—६९) अर्थात् अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज,

अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप (देवमनुष्यादि-रूप-रहित), (मायिक) हस्तपादादिरहित, विभु (नियन्ता), व्यापक, नित्य, सर्वभूतकी जिनसे उत्पत्ति हुई, स्वयं अकारण, व्याप्यमें जो व्याप्त है, जिनका बुद्धिमान् लोग ध्यान करते हैं, वह ब्रह्म, वह परधाम, मुमुक्षुका ध्येय, श्रुतिने जिसका वर्णन किया है, सूक्ष्म और विष्णुका परम पद यह परमात्माका स्वरूप 'भगवत्' शब्दसे वाच्य है और उस अनादि अक्षय आत्माका '*भगवत्*' शब्द वाचक है।

यह स्वरूप बताकर उसकी व्याख्या की गयी है। (१) '*भगवत्*' के भ, ग, व, अक्षरोंके सांकेतिक अर्थ इस प्रकार हैं। भ=सम्भर्ता (प्रकृतिको कार्ययोग्य बनानेवाले)।=भर्ता (स्वामी या पोषक)। ग=नेता (रक्षक), गमयिता (संहर्ता) और स्रष्टा। व=जो सबमें वास करता है और जिसमें सब भूत वास करते हैं। यथा—'**सम्भर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने॥**'……'**वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥**' (वि० पु० ६। ५। ७३, ७५)। उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न होनेसे 'भगवान्' नाम है। इस व्याख्यासे यह सिद्ध किया कि संसारका उपादान कारण, निमित्त कारण तथा उत्पत्ति, स्थिति, लयके करनेवाले और अन्तर्यामी यह सब 'भगवान्' हैं। (२) भगवान्='**भगः अस्यास्ति इति भगवान्।**' भग=सम्यक् ऐश्वर्य, सम्यक् वीर्य, सम्यक् यश, सम्यक् श्री, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् वैराग्य ये छहों मिलकर 'भग' कहलाते हैं। ऐश्वर्य आदि सम्पूर्णरीत्या जिनके पास हों उसे भगवान् कहते हैं। यथा—'**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥**' (वि० पु० ६। ५। ७४) (३) भगवान्=जो जीवोंकी उत्पत्ति, नाश, आगमन, गमन, विद्या और अविद्याको जानते हैं। यथा—'**उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥** (वि० पु० ६। ५। ७८)

महारामायण और निरुक्तिमें भगवान् शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है। (१) '**ऐश्वर्येण च धर्मेण यशसा च श्रियैव च। वैराग्यमोक्षषट्कोणैः संजातो भगवान् हरिः॥**' (महा० रा० अ० ४८ श्लो० ३६) अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष (ज्ञान) इन छहोंके सहित जिन्होंने अवतार लिया है, वह 'भगवान्' हैं। (२) '**पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यं षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥**' (महारामायण। करु० की टीकासे) अर्थात् भरणपोषण करनेवाला, शरणागतको शरण देनेवाला, सर्वव्यापक और करुणापूर्ण इन छहोंसे पूर्ण भगवान् श्रीराम हैं। (३) '**सर्वहेयप्रत्यनीककल्याणगुणवत्तया।**' (४३३) **पूज्यात्पूज्यतमो योऽसौ भगवानिति शब्द्यते।**' (निरुक्ति। विष्णुसहस्रनामकी श्लोकबद्ध टीका) अर्थात् त्याज्य मायिक गुणदोषोंके विरोधी, कल्याणगुणोंसे युक्त तथा सम्पूर्ण पूज्योंसे भी पूज्यतम होनेसे 'भगवान्' नाम है। (पं० अखिलेश्वरदासजी)

नोट— २ '*तेहि धरि देह चरित कृत नाना*' इति। अर्थात् (क) उपासकोंके लिये देहकी कल्पना कर लेते हैं। यथा—'*निज इच्छा निर्मित तनु माया गुनगोपार॥*' (१।१९२) '**चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥**' (रा० पू० ता० १। ७) अर्थात् जो चिन्मय, अद्वितीय, निष्कल और अशरीरी है वह ब्रह्म उपासकोंके कार्यके लिये रूपकी कल्पना कर लेता है। (ख) भाव यह कि जैसे मनुष्य कहते-करते हैं वैसे ही भगवान् नर-शरीर धारण करके नर-नाट्य करते हैं और उन्हींकी तरह बाल्यादि अवस्थाएँ धारण करते हैं। ब्रह्म अवतार लेता है, इसके प्रमाणमें 'अवतारमीमांसा', 'अवतारसिद्धि' आदि अनेक पुस्तकें मिलती हैं। दो-एक प्रमाण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। (१) '**एषो ह देवऽप्प्रदिशो नु सर्वाऽपूर्व्वो ह जातुऽसऽउ गर्ब्भेऽअन्तः॥ सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सुर्वतो मुखः॥**' (४) (यजुर्वेदसंहिता अ० ३२, कण्डिका ४, मन्त्र १) अर्थात् हे मनुष्यो! वह देव परमात्मा जो सब दिशा-विदिशाओंमें व्याप्त है, पूर्व समयमें गर्भके भीतर प्रकट हुआ। जो कि सबको पैदा करनेवाला था और जो सब ओर मुखवाला हो रहा है। (२)'**प्रजापतिश्चरति गर्ब्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा व्विजायते।**

तस्य योनिम्परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह्नतस्थुर्भुवनानि विश्श्वा॥' (यजु० ३१। १९) अर्थात् सम्पूर्ण जगत् तदात्मक है। आशय यह है कि सर्वत्र परमात्मा स्थित है। वह सबमें व्याप्त होकर अजन्मा होकर भी अनेक रूप धारण करता है। (कण्डिका १९ मन्त्र १) गीतामें भी कहा है, '**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥**' (४। ८)

नोट—३ बैजनाथजी लिखते हैं कि भगवद्गुणदर्पणमें कहा है कि एक बार महारानीजीने श्रीरामजीसे कहा कि आपका 'सौलभ्य गुण' छिपा हुआ है, आप सुलभ होकर सबको प्राप्त हूजिये। तब भगवान् अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें बसे। महारानीजीने कहा कि यह रूप तो सबको सुलभ नहीं है, केवल तत्त्वदर्शियोंको प्राप्त होगा। तब प्रभु चतुर्व्यूह सङ्कर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्नरूपसे प्रकट हुए। तब महारानीजीने कहा कि यह रूप केवल योगियोंको प्राप्त होगा, सबको नहीं। तब प्रभु जगन्नाथ, रङ्गनाथ और स्वयं प्रकट शालग्रामादि अनेक रूपोंसे प्रकट हुए। महारानीने कहा कि ये रूप तो सुकृती लोगोंको प्राप्त हैं, अन्यको नहीं। तब प्रभुने मत्स्यादि अवतार ग्रहण किये। इसमें भी सुलभता न मानी क्योंकि एक तो ये थोड़े ही काल रहे और फिर उनकी कीर्त्ति भी मनोहर नहीं। तब प्रभु स्वयं प्रकृतिमण्डलमें प्रकट हो बहुत काल रहे और अनेक विचित्र चरित किये, जिन्हें गाकर, सुनकर इत्यादि रीतिसे संसारका उद्धार हुआ। यहाँ व्यापकसे वह अन्तर्यामीरूप, विश्वरूपसे जगन्नाथादिरूप, भगवान्से चतुर्व्यूहरूप, '***धरि देह***' से मत्स्य-वराहादि '***विभव***' रूप और '***चरित कृत नाना***' से नरदेहधारीरूप कहे गये।

नोट—४ यहाँ दस विशेषण देकर सूचित करते हैं कि जो इन दसों विशेषणोंसे युक्त है, वही परमात्मा है और वही भक्तोंके लिये देह धारण कर अनेक चरित्र किया करते हैं। पुनः भाव कि चारों वेद और छहों शास्त्र उन्हींका प्रतिपादन करते हैं। यदि 'भगवान्' को विशेषण न मानें तो नौ विशेषण होंगे। नौ विशेषण देनेका भाव यह होगा कि संख्याकी इति नौ (९) हीसे है; अतः नौ विशेषण देकर संख्यातीत वा असंख्य विशेषणोंसे युक्त जनाया। श्रीरामजीके गुण कर्म, नाम और चरितसे भी अनन्त हैं। यथा—'***राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी॥***' '***रामचरित सत कोटि अपारा।***' (७। ५२) और यदि 'सत्, चित्, आनन्द' को तीन मानें तो बारह विशेषण होंगे। बारहका भाव यह हो सकता है कि जिस ब्रह्मने पूर्ण बारह कलाओंवाले सूर्यके वंशमें अवतार लिया वह यही हैं।

नोट—५ इन चौपाइयोंमें जो भाव गोस्वामीजीने दरसाया है, ठीक वही भाव विष्णुपुराणके षष्ठ अंश अध्याय पाँचमें विस्तारसे कहा गया है, जिसमेंसे बहुत कुछ ऊपर 'भगवान् शब्दपर लिखे हुए विवरणमें आ चुका है। जैसे चौपाईमें अव्यक्तरूपका वर्णन करके '***भगवाना***' शब्द अन्तमें दिया और तब उनका देह धारण करना कहा है, वैसे ही वहाँ प्रथम अव्यक्त रूपका (**यत्तदव्यक्तमजरं**……) वर्णन करके अन्तमें उसीका वाचक 'भगवान्' शब्द बताया और फिर उस शब्दकी व्याख्या करके अन्तमें उन्हींका देह धरना कहा है। यथा—'**समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः। इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेष-जगद्धितो यः।**' (८४) अर्थात् जिन्होंने अपनी शक्तिके लेशमात्रसे भूतमात्रको आवृत किया है तथा अपनी इच्छासे जो अभिमत देह धारण करते हैं ऐसे समस्त कल्याणगुणोंवाले भगवान् (श्रीरामजी) अशेष जगत्का हित करते हैं। (पं० अखिलेश्वरदासजी)

सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥ ५॥

अर्थ—सो (देह धारण करके चरित्र करना) भक्तोंके ही हितके लिये है (क्योंकि) वे परम दयालु हैं और शरणागतपर उनका प्रेम है॥ ५॥

टिप्पणी—'***सो केवल भगतन हित लागी।***……' इति। (क) '***केवल***' का भाव यह है कि अवतार होनेमें हेतु कुछ भी नहीं है। भक्तोंहीके हितके लिये अवतार होता है, यथा—'***सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा।***

नरहरि किए प्रगट प्रहलादा॥' (अ० २६५) *'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥'* (सुं० ४८) *'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जगजाल॥'* *'राम सगुन भये भगत प्रेम बस॥'* (२। २१९) *'अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥'* (१। ५१) *'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप॥'* (७। ७२) *'भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥'* (१। ११६) *'भगत हेतु लीला बहु करहीं॥'* (७। ७५) इत्यादि। (ख) भक्तोंका हित क्या है? *'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥'* (बा० १२२) यह हित हुआ। पुनः, जो उपकार करते हैं उसे आगे लिखते हैं। (ग) *'परम कृपाल'* पदसे अवतारका हेतु कहा कि कृपा करके ही अवतार लेते हैं। यथा—*'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला॥'* (१। १९२) *'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥'* (बा०। १२१) *'गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तन धारी॥'* (५। ३९) *'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥'* (१। १२२) 'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्' (शाण्डिल्यसूत्र ४९)। पुनः, *'परम कृपाल'* का भाव कि अन्य स्वामी वा देव *'कृपाल'* होते हैं और ये *'परम कृपाल'* हैं। श्रीरामजीके सम्बन्धमें 'कृपा' का भाव यह है कि एकमात्र हम ही भूतमात्रकी रक्षाको समर्थ हैं। यथा—भगवद्गुणदर्पण **'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसन्धानं कृपा सा पारमेश्वरी॥'** (वै०) (घ) *'प्रनत अनुरागी'* इति। अर्थात् भक्तोंके प्रेममें मर्यादाका विचार नहीं रह जाता। जो एक है उसका बहुत रूप धारण करना, जो ईहा अर्थात् व्यापाररहित है उसका व्यापार करना, जो अरूप है, अनाम है और अज है उसका रूप, नाम और जन्म ग्रहण करना, जो सच्चिदानन्द है उसका हर्ष-विस्मयमें पड़ना, जो परधामवासी है उसका नरधाम (मर्त्यलोक) में आना, जो सर्वव्यापी है, विश्वरूप है और षडैश्वर्यसम्पन्न है उसका सूक्ष्म जीवरूप भासित करना, छोटी-सी देह धारण करना और माधुर्यमें विलाप आदि करना— ये सब बातें उस परम समर्थ प्रभुमें न्यूनता लाती हैं। इसीसे इसका समाधान इस अर्धालीमें किया है कि वह प्रभु परम कृपाल और प्रणत-अनुरागी है। वह अपने भक्तोंके लिये यह न्यूनता भी ग्रहण करता है। श्रीप्रियादासजी 'भक्तिरसबोधिनी टीका' में 'भगवान्' शब्दकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं, *'वही भगवंत संतप्रीतिको विचार करे धरे दूरि ईशताहु पांडुन सों करी है।'* वही भाव यहाँ दरसाया है। (शीलावृत्त) सन्तों, भक्तोंके अनुरागमें मर्यादा छोड़ देते हैं। मच्छ, कच्छ, वाराह, नृसिंह, वामनादि देह धारण कर लेते हैं। (ङ) साक्षात् दर्शन क्यों नहीं देते? अवतार क्यों धारण करते हैं? उत्तर—जैसे सूर्यको कोई स्वयं नहीं देख सकता पर यदि उनका प्रतिबिम्ब जलमें पड़े तो सब कोई अनायास देख सकते हैं वैसे ही भगवान्‌को कोई देख नहीं सकता, वे दुष्प्रेक्ष्य हैं। अवतार प्रतिबिम्बके समान है। सबको आनन्दके साथ दर्शन मिल जाय इसलिये अवतार ग्रहण करते हैं। (रा० प्र० सू० प्र० मिश्र) (प्रतिबिम्बके समान होना वैष्णवसिद्धान्तानुकूल नहीं है। अद्वैतसिद्धान्तमें विद्यागत प्रतिबिम्बको ईश्वर कहते हैं। और वैष्णवसिद्धान्तमें स्वयं ब्रह्म भक्तवश प्रकट हो जाता है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि ब्रह्म अपने अनन्त-कोटि सूर्यवत् प्रकाशको छिपाये रखते हैं।)

खर्रा—इस प्रकरणमें गोस्वामीजीने प्रथम लोकपरम्परा दिखायी। यथा—*'तदपि कहे बिनु रहा न कोई।'* फिर *'भजन प्रभाव भाँति बहु भाषा'* से वेदके अनुकूल दिखाया। और *'तेहि धरि देह चरित कृत नाना।'* (१। १३। ४) कहकर आचरणसे श्रीरघुनाथजीको अंगीकार है यह दिखाया। तथा, *'परम कृपाल प्रनत अनुरागी'* से अपना निर्वाह दिखाया कि मेरी कविताका आदर करेंगे एवं अपने और रघुनाथजीमें प्रणत और प्रणतपालका नाता दृढ़ किया।

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं[1] करुना करि कीन्ह न कोहू॥ ६॥

---

१ तेहि—को० रा०, रा० प्र०। जेहिं—१६६१, १७०४ (श० ना० चौ०। परन्तु रा० प० में 'तेहि' है), १७२१, १७६२, छ०। करु०, पं०, पं० रा० ब० श० जीने 'तेहि' पाठ दिया है।

अर्थ—जिसकी अपने दासपर अत्यन्त ममता और कृपा है और जिसने कृपा करके (फिर) क्रोध नहीं किया॥ ६॥

नोट—१ यह चौपाई और अगली '*परम कृपाल प्रनत अनुरागी*' के विशेषण हैं। दूसरेका दु:ख देख स्वयं दु:खी हो जाना 'करुणा' है।

नोट—२ (क) '*ममता*' और '*अनुराग*' (जो ऊपर '*प्रनत अनुरागी*' में कह आये हैं) का एक ही अर्थ है। इसी तरह '*छोह*' और '*कृपा*' का (जो ऊपर '*कृपालु*' कह आये हैं) एक अर्थ है। पूर्व '*परम*' विशेषण दिया, इसीसे यहाँ '*अति*' विशेषण दिया। (ख) '*अति*' का भाव यह है कि जीव ज्यों ही आपकी शरण आता है, आप उसके सब अपराध भूल जाते हैं। श्रीमुखवचन है कि '*कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥*' '*सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥*'..... *जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाई॥*' (सुं० ४४) '**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥**' (वाल्मीकीय रामायण ६। १८। ३३)

नोट—३ ऊपर कहा कि प्रणतपर अनुराग करते हैं। इसपर यदि यह सन्देह कोई करे कि 'फिर क्रोध भी करते होंगे; क्योंकि जहाँ राग है, वहाँ द्वेष भी है?' तो इसका निवारण इस चौपाईमें करते हैं। भाव यह कि जिस जनपर ममता और छोह है, उसपर क्रोध नहीं करते। यथा—*साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरे॥*' (दोहावली ४७) पुन:, '*जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी॥*' (बा० २८) इत्यादि। वाल्मीकीयमें भी यही कहा है कि '**न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥**' (२। १। ११) '**मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥**' (६। १८। ३)

नोट—४ इस चौपाईमें प्रभुको '*जितक्रोध*' और '*पूर्णसमर्थ स्वामी*' दर्शित किया है। जो पूर्ण नहीं होते, वे ही अपराधपर क्रोधित होते हैं। यथा—'*भली-भाँति पहिचाने-जाने साहिब जहाँ लौं जग, जूड़े होत थोरे ही थोरे-ही गरम।*.....*रीझि-रीझि दिये बर-खीझि, खीझि घाले घर, आपने निवाजेकी न काहू को सरम॥*' (वि० २४९) '*कहा बिभीषन लै मिल्यो कहा बिगार्‌यो बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहि सब दिन आए पालि॥*' (दोहावली १५९)

गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥ ७॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी खोयी हुई वस्तुको दिलानेवाले, गरीबनिवाज (दीनोंपर कृपा करनेवाले), सरल-स्वभाव, सबल, सर्वसमर्थ स्वामी और रघुकुलके राजा हैं॥ ७॥

नोट—१ (क) '*गई बहोर*' इति। अर्थात् (१) *गई* (=खोयी) हुई वस्तुको फिरसे ज्यों-की-त्यों प्राप्त कर देनेवाले। यथा, (क) दशरथमहाराजका कुल ही जाता था। यथा—'*भइ गलानि मोरे सुत नाहीं॥*' (१। १९८) उनके कुलकी रक्षा की। विश्वामित्रजीका यज्ञ मारीचादिके कारण बन्द हो गया था, सो आपने मुनिको निर्भय किया। *देखत जग्य निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥*' (१। २०६) '*निरभय जग्य करहु तुम्ह जाई॥*' *मारि असुर द्विज निरभय कारी।*' (१। २०९) '*कौसिक गरत तुषार ज्यों लखि तेज तिया को।*' (वि०) (ख) अहल्याका पातिव्रत्य नष्ट हुआ। उसका रूप उसको फिर दिया, पाषाणसे स्त्री किया और उसे फिर पतिसे मिलाया। '*गौतम नारी साप बस उपल देह धरि धीर।*.....*मुनि श्राप जो दीन्हा*.....*एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी। जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पतिलोक अनंद भरी॥*' (१। २११) '*चरन-कमल-रज-परस अहल्या निज पति-लोक पठाई।*' (गी० १। ५२) (ग) गौतम ऋषिकी बिछुड़ी हुई स्त्री दिलायी। '*रामके प्रसाद गुर गौतम खसम भये, रावरेहु सतानंद पूत भये मायके।*' (गी० १। ६७) (घ) श्रीजनक-प्रतिज्ञा गयी रही, उनका प्रण रखा। यथा—'*तजहु*

आस निज निज गृह जाहू।......*तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥*' (१। २५२) '*कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं।*' (१।२६१)......'*जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई।*' (१। २६३) (ङ) सुग्रीवजीको फिर राज्य दिया। '*सो सुग्रीव कीन्ह कपि राऊ।*' (च) देवताओंकी सम्पत्ति सब रावणने छीन ली थी, सो उनको दिलायी। यथा—'*आयसु भो, लोकनि सिधारे लोकपाल सबै, 'तुलसी, निहाल कै कै दिये सरखतु हैं॥*' (क० ६। ५८) '*दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर-नाग-नर सुमुखि सना हैं॥*' (गी० ७। १३)

(२) महानुभावोंने कुछ और भी भाव ये लिखे हैं। (क) योगभ्रष्ट होनेपर आपकी शरण जिसने ली आपने उसे फिर योगमें आरूढ़ कर दिया। पुनः, जिसका मायाके आवरणके कारण विषयासक्त होनेसे स्वरूपका ज्ञान जाता रहता है, उसे फिर प्राप्त करानेवाले हैं। (करु०) पुनः, सम्पूर्ण अवस्था व्यतीत होनेपर भी जब अन्तिम समय आ जाता है, तब भी शरण होते ही जन्मका फल प्राप्त कर देते हैं। यथा—'*तरेउ गजेन्द्र जाके एक नाउँ*', '*बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु। होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥*' (दोहावली २२) '*गई बहोर ओर निर बाहक साजक बिगरे काज के। सबरी सुखद गीध गति दायक समन सोक कपिराज के॥*' (गी०)

नोट—२ (क) '*गरीबनिवाजू*' के उदाहरण। यथा—'*अकारन को हितू और को है। बिरद 'गरीब-निवाज' कौनको, भौंह जासु जन जोहै॥*' (वि० २३०) '*बालि बली बलसालि दलि सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपालु को बिरद गरीब निवाज॥*' (दोहावली १५८) '*राम गरीबनिवाज हैं मैं गही न गरीबी। तुलसी प्रभु निज ओर ते बनि परै सो कीबी॥*' (विनय०) अयोध्याकाण्डभर इसके उदाहरणोंसे भरा हुआ है। गरीबी, मिसकीनता और दीनता एक ही हैं, पर्याय हैं। दीनता यह होनी चाहिये कि मुझसे नीच कोई नहीं है, तृण-(घास-) वत् हो जाय, पैरसे कुचले जानेपर जो उफ़ भी नहीं करती। जिस दशामें फिर दूसरा भाव ही न समा सके, सदा उसी रंगमें रँगा रहे। श्रीदेवतीर्थस्वामीजी 'दीनता' की व्याख्या यों करते हैं, '*पति पद सुरति लगी सियजू की आन भाव न समाई। उनको सुरति आन की कैसे होइ न बात कहाई॥ सखी दीनता यह देवलमें क्षणक रहै जो आई। तौ चटपटी परै सियजू को इहई नेक उपाई॥*' (ख) कोई ऐसा लिखते हैं कि मायाके कारण जो सब धन ऐश्वर्यहीन हो गये उन गरीबोंको ऐश्वर्य देनेवाले होनेसे 'गरीबनिवाज' कहा।

नोट— ३ '*सरल*' के उदाहरण यथा—'*सिसु सब राम प्रेम बस जानें। प्रीति समेत निकेत बखानें॥ निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥*' (१। २२५) '*राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥*' (१। २२७) '*बेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बैन॥*' (अ० १३६) '*सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह।*' (अ० ९) '*सरल सील साहिब सदा सीतापति सरिस न कोइ।*' (विनय०) निषाद और शबरीके प्रसंग इसी गुणको सूचित करते हैं।

नोट—४ '*सबल*' इति। रामायणभर इसका दृष्टान्त है। सबल ऐसे कि '*सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥*' (६। २२) पुनः, सबल ऐसे कि शंकरजीके भी ध्यानमें नहीं आते। (पांडेजी)

नोट ५ '*साहिब*' इति। यथा—'*हरि तजि और भजिये काहि। नाहिनै कोउ राम सो ममता प्रनतपर जाहि॥ मुनीस, जोगबिद बेद-पुरान बखाने। पूजा लेत, देत पलटे सुख हानि-लाभ अनुमाने॥*' (वि० २३६) दोहा *सेवक जान जग, बहु बार दिये दस सीस॥ करत राम-बिरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस॥ और देवनकी कहा कहौं, स्वारथहिके मीत॥ कबहु काहु न राख लियो कोउ सरन गयउ सभीत॥*' (वि० २१६) '*जे सुर, सिद्ध, मुनीस, जोगबिद बेद-पुरान बखाने। पूजा लेत, देत पलटे सुख हानि-लाभ अनुमाने॥*' (वि० २३६) दोहा २८। ४ में भी देखिये। (वि० २४९-२५०, १९१) कवितावली और (१३। ६) नोट ४ देखिये।

नोट—६ *'रघुराजू'* इति। ऐसे कुलमें अवतीर्ण हुए कि जिसमें लोकप्रसिद्ध उदार, शरणपालादि राजा हुए और आपका राज्य कैसा हुआ कि *'त्रेता भइ सतजुग की करनी।' 'राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥ बयरु न करु काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥'''''काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं।'* (२१)''''''*अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।'* (उ० १९से २३तक) पुनः (७। ३१) देखिये। इससे दिखाया कि इनकी शरण लेनेसे जीव अभय हो जाते हैं।

'सरल सबल साहिब रघुराजू' इति।

ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी—सरल भी हैं और साथ ही सबल भी और पुनः वे रघुकुलके महाराज हैं। सरलके साथ, सबल इसलिये कहा कि सबलताहीमें 'सरलता' और 'शक्ति'हीमें क्षमाकी शोभा होती है और यह न समझा जावे कि ये शक्तिहीन थे, अतएव दीन (या सरल) थे। यथा—**'शक्तानां भूषणं क्षमा।'** रघुवंशियोंमें ज्ञानमें मौन और शक्तिमें क्षमा, दानमें अमानता, वैसे ही सबलतामें सरलता—ये गुण स्वभावसे सिद्ध हैं। यथा—**'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघा विपर्ययः। गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव॥'** (रघुवंश १। २२) सो उन रघुवंशियोंमें और उस रघुकुलमें श्रीरामचन्द्रजी सर्वश्रेष्ठ अतएव पुरुषोत्तम हैं। बड़ी साहिबीमें नाथ बड़े सावधान हो।' (क० ७। १२६) *'साहिब'* के साथ *'रघुराज'* पद देनेका यह भी भाव है कि वे साहिब अथवा ईश्वर होते हुए रघुराज हैं और रघुराज होते हुए भी ईश्वर हैं। अर्थात् उनका चरित और महत्त्व ऐश्वर्य माधुर्यमय है।

पं० रामकुमारजी—अवतार लेकर भक्तोंका जो हित करते हैं सो कहते हैं। मन, वाणी और चरितसे 'सरल' हैं। भक्तोंके लिये बड़े-बड़े बलवान् राक्षसोंको मारते हैं, अतः 'सबल' हैं। तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं, अतः *'साहिब'* कहा। 'रघुकुलके राजा' हैं, धर्मकी रक्षा करते हैं।

छः विशेषण देनेके भाव

१ सन्त श्रीगुरुसहायलालजी—(क) *'गई बहोर''''''* ' से सात अवतार सूचित किये हैं। यथा, *'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥' 'जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥'* (लं० १०९) अथवा, (ख) सब अवतार सूचित किये। (१) *'गई बहोर'* से 'मीन, कमठ, शूकर' अवतार सूचित किये। शङ्खासुर वेदको चुराकर समुद्रमें ले गया था, सो मत्स्यरूपसे ले आये। दुर्वासाके शापसे लक्ष्मी समुद्रमें लुप्त हो गयी थीं। क्षीरसागर मथनेके लिये गरुड़पर मन्दराचल लाये। देवताओंके सँभाले जब न सँभला तो कमठरूपसे मन्दराचलको पीठपर धारण किया। हिरण्याक्ष पृथ्वीको पाताल ले गया तब शूकररूप हो पृथ्वीका उद्धार किया। (२) *'गरीब नेवाजू'* से नृसिंह-अवतार सूचित किया जिसमें प्रह्लादजीकी हर तरहसे रक्षा की, 'खम्भमेंसे निकले'। (३) *'सरल'* से वामन अवतार सूचित किया। क्योंकि प्रभुता तजकर विप्ररूप धर भीख माँगी। एवं बुद्धरूप जनाया जो देव-गुणोंके हेतु वेदनिन्दक कहलाये। (इसीसे कहीं-कहीं बुद्धको अवतारमें नहीं गिना है।) (४) *'सबल'* से परशुराम-अवतार कि जिन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको निक्षत्रिय किया, इत्यादि जितने अवतार हैं उन सबके साहिब हैं। (५) *'सबल साहिब रघुराजू'*=ऐसे सबल परशुराम उनके भी स्वामी श्रीरामजी हैं कि जिनकी स्तुति परशुरामजीने की। अवतारका परास्त होना इसीमें है। इस प्रकार आपको अवतारोंका अवतारी सूचित किया। यथा—**'एतेषामवताराणामवतारी रघूत्तम।'** (हनुमत्संहिता)

२ सुदर्शनसंहितामें लिखा है कि **'राघवस्य गुणो दिव्यो महाविष्णुः स्वरूपवान्। वासुदेवो घनीभूतस्तनु-तेजः सदाशिवः॥ मत्स्यश्च रामहृदयं योगरूपी जनार्दनः। कुर्मश्चाधारशक्तिश्च वाराहो भुजयोर्बलम्॥ नारसिंहो महाकोपो वामनः कटिमेखला। भार्गवो जङ्घयोर्जातो बलरामश्च पृष्ठतः॥ बौद्धस्तु करुणा साक्षात् कल्किश्चित्तस्य हर्षतः। कृष्णः शृङ्गाररूपश्च वृन्दावनविभूषणः॥ एते चांशकलाः सर्वे रामो ब्रह्म सनातनः॥'** (१—५) अर्थात् श्रीराघवके जो दिव्य गुण हैं वही विष्णु हैं, उनका कल्याणकारी घनीभूत तेज वासुदेव हैं, योगरूपी जनार्दन श्रीरामजीका हृदय

मत्स्य है, आधारशक्ति कूर्म, बाहुबल वाराह, महाक्रोध नृसिंह, कटिमेखला वामन, जङ्घा परशुराम, पृष्ठभाग बलराम, बौद्ध साक्षात् श्रीरामजीकी करुणा, चित्तका हर्ष कल्कि और श्रीकृष्ण वृन्दावनविहारी श्रीरामजीके शृङ्गारस्वरूप हैं। इस प्रकार ये सब श्रीरामजीके अंश हैं और श्रीराम अंशी स्वयं भगवान् हैं। सम्भवतः इसीके आधारपर मानसमयंककारने लिखा है, *'परसुराम अति सबल हैं, साहिब सब पर राम। हिय अधार भुज कोप कटि जंघ अंश सुखधाम॥'* अर्थात् उपर्युक्त छहों अवतार क्रमशः हृदय, आधारशक्ति, भुजा, कोप, कटि और जङ्घाके अंशोंसे हुए हैं। अतः श्रीरामजी सबके स्वामी वा अवतारी हैं।

३ रा० प्र०—यहाँ छः विशेषण दिये हैं। ये प्रतिकाण्डकी कथाके लिये क्रमसे एक-एक विशेषण हैं। उत्तरकाण्ड खिलभाग जानकर छोड़ दिया है। या छठे विशेषण 'रघुराज' से लङ्का और उत्तरकाण्डोंकी कथाका संग्रह किया। *'गई बहोर, गरीब नेवाजू'* हैं—विश्वामित्र, अहल्या तथा जनकराजके बाधित और विनष्ट होते हुए ध्येय और प्रेयको लौटाया एवं शबरी, निषाद आदिपर कृपा की। सरलता शबरी आदिके यहाँ जानेमें, सबलता तालबेध और खर-दूषणादिके वधमें, साहबी विभीषणकी रक्षामें, रघुराज रिपुरहित राज्यमें (प्रतिकाण्डके लिये क्रमशः एक-एक विशेषण माननेसे एक काण्डकी कथाके लिये विशेषणकी कमी होती है। इसकी पूर्ति 'साहिब'को सुन्दर एवं लङ्का दोनों काण्डोंकी कथा दर्शित करनेवाला विशेषण माननेसे हो सकती है। विनयमें कही हुई *'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी'* श्रीहनुमान्‌जीके चरित तथा हनुमद्रावणसंवादमें भलीभाँति दर्शित की गयी है और लङ्काकाण्डमें भी मन्दोदरी, अङ्गद, माल्यवान्, कुम्भकर्णादिद्वारा तथा त्रैलोक्य-विजयी रावणके वधसे सिद्ध ही है। मा० प० कार 'साहिब' से अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लङ्का चार काण्ड लेते हैं। किष्किन्धामें सुग्रीवकी साहिबी सजी, सुन्दरमें विभीषणको लङ्केश कहा और तिलक कर दिया तथा लङ्कामें राज्यपर बिठा दिया)।

बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**पुनीत**=पवित्र। **सुफल**=जो मुखसे निकले वह सच हो यही वाणीकी सफलता है। श्रीराम-यशगुण कितना ही कोई बढ़ाकर कहे, वह थोड़ा ही है। इसलिये रामगुणगानमें जो कुछ कहा जायगा सब सत्य ही होगा। इससे वाणी सफल होती है। (मा० प्र०)।=कृतार्थ।

अर्थ—ऐसा जानकर (कि गुणातीत प्रभु भक्तहित देह धारण करके चरित करते हैं जिसे गाकर भक्त भव पार होते हैं और वे प्रभु परमकृपाल, प्रणत-अनुरागी और गयी-बहोरादि हैं।) बुद्धिमान् पण्डित हरियश वर्णन करते हैं और अपनी वाणीको पवित्र और सुफल करते हैं॥ ८॥

नोट—१ *'करहिं पुनीत'* उपक्रम है, *'निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कहेउ॥'* (३६१) में इसका उपसंहार है। इस चौपाईका चरितार्थ बालकाण्डके अन्तमें है। यथा—*'तेहि ते मैं कछु कथा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी॥ निज गिरा पावनि करन कारन, रामजस तुलसी कहेउ॥'* (३६१)

नोट—२ रामयश वर्णन करनेका यहाँ दूसरा कारण बतलाया। प्रथम कारण *'तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥'* (१३। २) में कह आये।

तेहि बल मैं रघुपति गुनगाथा। कहिहउं नाइ रामपद माथा॥ ९॥

अर्थ—उसीके बलसे मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें शीश नवाकर (उन्हीं) रघुकुलके स्वामीके गुणोंकी कथा कहूँगा॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'तेहि बल'* इति। जिस बलसे बुध वर्णन करते हैं, उसी बलसे मैं भी वर्णन करता हूँ। अर्थात् भजन जानकर अथवा बुध ऐसा जानकर वर्णन करते हैं और इनको देखकर वर्णन करना उचित ही है। शारदाशेषादिका आश्रय लेकर बुध वर्णन करते हैं और बुधका आश्रय लेकर मैं वर्णन करता हूँ।

टिप्पणी—२ उस बलसे *'मैं रघुपति गुणगान करूँगा'*, यहाँ इतना कहकर आगे *'मुनिन्ह प्रथम हरि*

कीरति गाई' से *'एहि प्रकार बल मनहि दिखाई'* तक बलका वर्णन है। [पुनः, *'तेहि बल'*='भजन बल' से। (रा० प्र०) वा, श्रीरामचन्द्रजीको *'गई बहोर गरीब नेवाजू'* जानकर उनके बलपर। (करुणासिन्धुजी) 'बल' का अर्थ 'भरोसा, बिर्ता, विश्वास' है। यथा—*'जौं अंतहु अस करतब रहेऊ। माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ॥'* (२। ३५) *'कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गालु करब केहि कर बलु पाई॥'* (२। १४) *'मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें॥'* (१। ३४२)]

टिप्पणी—३ *'कहिहउँ'* अर्थात् आगे कहूँगा, अभी नहीं कहता, अभी तो वन्दना करता हूँ। आगे जब कहूँगा तब रामपदमें माथा नवाकर कहूँगा। यथा—*'अब रघुपति पदपंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संबाद॥'* (१। ४३)

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मगु चलत सुगम[१] मोहि भाई॥ १०॥

अर्थ—मुनियोंने पहले हरियश गाया है। भाई, उसी मार्गपर चलना मुझे सुगम जान पड़ता है॥ १०॥

नोट—१ *'मुनिन्ह'*..... इति। (क) मुनिन्ह बहुवचनसे निश्चित हुआ कि पूर्व भी मुनियोंने श्रीरामयश गाया है। (ख) *'तेहि मगु'* इति। भाव कि जो राह वे निकाल गये, उसी राहपर हम भी चलेंगे। यह नहीं कहते कि जो उन्होंने कहा वही हम भी कहेंगे। वह मग क्या है? *'तदपि कहे बिनु रहा न कोई', 'निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं॥'* (७। ९१) *'एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं। प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥'* (७। ९२) यही मार्ग हम भी ग्रहण करेंगे। पुनः किसीने बाल, किसीने पौगण्ड या विवाह, किसीने वन या रण और किसीने राजगद्दी इत्यादि प्रसंग लेकर जो जिसको भाया उसीको विस्तारसे जहाँतक उसकी बुद्धि जिस प्रसंगमें चली कहा, वैसे ही हम भी जैसी कुछ प्रभुकी कृपा-अनुकम्पासे बुद्धिमें अनुभव होगा कहेंगे। (ग) सुगमता आगे दोहेमें दृष्टान्तद्वारा कहते हैं।

नोट—२ *'मोहि भाई।'* इसका अर्थ बैजनाथजीने 'मुझे रुचता है, भाता है' किया है। 'भाई' विचार करनेमें मनके सम्बोधनके लिये बोलनेकी रीति है, वस्तुतः इसका कोई अर्थ यहाँ नहीं है। विशेष (८ । १३) *'जग बहु नर सर सरि सम भाई।'* में देखिये।

दो०—अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं॥ १३॥

शब्दार्थ—**सेतु**=पुल। **बर**=बड़ी, श्रेष्ठ। **पिपीलिकउ**=चींटी (वा, च्युँटी)। **सरित**=नदी। **श्रम**=परिश्रम, थकावट।

अर्थ—जो बड़ी दुस्तर नदियाँ हैं, यदि राजा उनमें पुल बँधा देते हैं, तो बहुत ही छोटी-से-छोटी चींटियाँ भी बिना परिश्रमके पार चली जाती हैं॥ १३॥

नोट—१ *'रघुपति कथा'* उपमेय है और वह स्त्रीलिङ्ग है; इसलिये स्त्रीलिङ्ग शब्द श्रेष्ठ नदी (*सरित बर*) से उसकी उपमा दी। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ 'समुद्र' न कहकर *'सरित बर'* ही कहनेका कारण यह है कि *'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई'* (जो ऊपर कह आये हैं उस) के *'कीरति'* के साथ समुद्रका समानाधिकरण नहीं है—'। रघुपतिचरित अपार है। यथा, *'कहँ रघुपतिके चरित अपारा।'* इसीसे *'अपार सरित'* की उपमा दी। पं० शिवलाल पाठकजी इस दोहेका भाव यह लिखते हैं कि *'सरित नदी बर पर जलधि, अस सियवर यश जान। मन पिपीलिका तोष लगि, कहे सेतु निर्मान॥'* (मा० अ० २७) और मा० म० में लिखते हैं—*'मकब सिंह बप रामयश लरसुघदुदजल अंत।'* अर्थात् *सरितबर* (=समुद्र) रूपी रामयशपर पुल बाँधना सर्वथा असम्भव है, परन्तु यहाँ मनके सन्तोषके लिये सेतु बाँधना कहा है। पुनः पूर्व जो *'गई बहोर'*..... में सात अवतार कहे थे, उनका यश क्रमसे सातों समुद्र है। ल (लवण)

१-सुलभ—१७२१, १७६२, छ०। सुगम—१६६१, १७०४, को० रा०।

र (इक्षुरस), सु (सुरा), घ (घृत), दु (दुग्ध), द (दधि) और जल (मीठे जलका) ये सात समुद्र हैं, जो क्रमशः एकसे दूसरा दूना होता गया है। पुल बाँधना तो सभीपर असम्भव है, उसपर भी जो अन्तिम सबसे बड़ा मिष्ट जलधि है वह तो अत्यन्त अपार है। उसपर तो मनसे भी सेतु-बन्धन करना महान् असम्भव है। परन्तु मनके सन्तोषके लिये कहते हैं कि वाल्मीकि, व्यास आदिने आखिर उसे गाया ही है और उसपर 'इति श्री' लिखी ही है वैसे ही मैं कहूँगा। 'इति श्री' लगाना ही पुल बाँध देना है।

नोट—२ यहाँ वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे-तैसे आदि वाचक पद लुप्त हैं। *'अति अपार सरितवर'* रामयश है, *'नृप'* 'वाल्मीकि व्यासादि' हैं, सेतु उनके रचे ग्रन्थ और पिपीलिका गोसाईंजी हैं।

एहि प्रकार बल मनहि देखाई। करिहौं रघुपति कथा सुहाई॥ १॥

अर्थ—इस प्रकार मनको बल दिखाकर श्रीरघुनाथजीकी सुन्दर शुभ कथा कहूँगा॥ १॥

टिप्पणी—१ ऊपर पहले यह कह आये हैं कि *'तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा॥'* (१३। ९) और यहाँ कहते हैं कि *'एहि प्रकार बल मनहि देखाई। करिहौं रघुपति कथा सुहाई॥'* प्रथम *'कहिहउँ'* कहा, अब *'करिहौं'* कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम गोस्वामीजीने यह कहा था कि *'बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी॥'* जब उनका वर्णन कहा, तब अपने लिये भी वर्णन करना लिखा, अतः *'कहिहउँ'* पद दिया। पुनः, जब मुनियोंका सेतु बाँधना कहा, यथा—*'तेहि मगु चलत सुगम मोहि भाई॥ अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं।'* तब आपने भी कहा कि दूसरोंके लिये मैं भी ऐसा ही करूँगा। यह बात *'करिहौं'* पद देकर सूचित की है।

टिप्पणी—२ प्रथम गोस्वामीजीने *'तेहि बल'* कहा और यहाँ *'एहि प्रकार'* कहते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँ दो प्रकरण हैं। पहले मन कदराता था, कथा कहनेमें प्रवृत्त ही नहीं होता था। जब बल दिखाया तब प्रवृत्त हुआ। यह प्रकरण *'समुझत अमित रामप्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥'* (१२। १२) से लेकर *'तेहि बल मैं रघुपतिगुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा॥'* (१३। ९) तक है। मनका कदराना दूर हुआ, बुद्धि कथा कहनेको तैयार हुई, परंतु पार होनेमें संशय रहा। दूसरे प्रकरणका यहाँ प्रारम्भ हुआ। पार जानेके लिये अब बल दिखाते हैं कि *'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मगु चलत सुगम मोहिं भाई॥ अति अपार जे सरित बर......'*। यह दूसरा प्रकरण *'एहि प्रकार बल मनहिं देखाई॥'* पर समाप्त हुआ। पुनः, मुनियोंको श्रीरामकी अमित प्रभुताई कहनी कठिन है। जितनी मुनि कहते हैं, उतनी हमसे कही जाना दुष्कर था। श्रीरामजीकी प्रभुता समझकर मन कदराता था, उसे इस प्रकार बल दिखाया कि मुनियोंने यथाशक्ति उसे कहा तो हम भी यथाशक्ति कहेंगे, उतना न सही।

नोट—*'सुहाई'* से कई अभिप्राय निकलते हैं। कथा सुन्दर है, सबको *'सुहाई'* अर्थात् प्रिय लगेगी। यथा, *'प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति रामजस संग'* और जैसी हमको सुहावेगी, भावेगी, वैसी कहेंगे, अर्थात् जैसे किसीने बालचरित, किसीने विवाह इत्यादि अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कहा वैसे ही हमें जो रुचेगा हम उस प्रसंगको विस्तारसे कहेंगे।

निज नीचानुसंधानसहित वन्दनाका प्रकरण समाप्त हुआ।

******

कवि-वन्दना-प्रकरण

ब्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरिसुजस बखाना॥ २॥
चरन कमल बंदौं तिन्ह केरे। पुरवहु सकल मनोरथ मेरे॥ ३॥

अर्थ—व्यास आदि अनेक बड़े-बड़े कवि जिन्होंने बड़े आदरपूर्वक हरिसुयश कहा है॥ २॥ उन सबोंके चरण-कमलोंको प्रणाम करता हूँ। (वे) सब मेरे मनोरथको पूरा करें॥ ३॥

नोट—१ व्यासहीका नाम दिया, वह भी आदिमें, क्योंकि व्यासजी २४ अवतारोंमेंसे एक अवतार माने गये हैं। आप ऐसे समर्थ थे कि अपने शिष्य सञ्जयको यह सिद्धि आपने ही दी कि वह राजा धृतराष्ट्रके पास बैठे हुए महाभारतयुद्ध देखता रहा और राजाको क्षण-क्षणका हाल वहीं बैठे-बैठे बताता रहा था। पुनः, काव्यरचनामें आप ऐसे निपुण हुए कि १८ पुराण कह डाले। पुनः, आपने वेदोंके विभाग किये हैं। अतः सबसे प्रधान समझकर इनको प्रथम कहा। आप शुकदेवजीके पिता और सत्यवतीजीके पुत्र वसिष्ठजीके प्रपौत्र हैं। गोस्वामीजी चाहते हैं कि आप ऐसी ही कृपा हमपर करें कि हमें भी श्रीरामचरित सूझने लगे और हम उसे छन्दोबद्ध कर सकें। पुनः, *'ब्यास आदि'* पद देकर यह भी सूचित किया कि इनसे लेकर इनके पूर्व जितने बड़े-बड़े कवि द्वापर, त्रेता और सतयुगमें हुए उन सबकी वन्दना करते हैं। द्विवेदीजी कहते हैं कि 'आदिकवि' को एक पद कर देनेसे इस रामायणके प्रबन्धमें प्रधान श्रेष्ठ वाल्मीकिजीका भाव भी आ जाता है। और बैजनाथजीका मत है कि यहाँ व्यास, आदिकवि वाल्मीकि और बड़े-बड़े कवि नारद, अगस्त्य, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि जो बहुत-से हुए, उन सबोंकी वन्दना है। परन्तु वाल्मीकिजीकी वन्दना आगे एक दोहेमें स्वतन्त्ररूपसे की गयी है जिसका कारण स्पष्ट है कि उन्होंने केवल रामचरित्र ही गान किया है और कुछ नहीं और इन व्यासादि महर्षियोंने श्रीहरिचरित्र तो सादर अवश्य गाया है, पर उन्होंने देव, दैत्य, नर, नागादिके भी चरित्र वर्णन किये हैं, केवल भगवच्चरित्र ही नहीं। (वै० भू०)। पुंगव=श्रेष्ठ, बड़े-बड़े।

नोट—२ *'सकल'* पद 'व्यास आदि' और *'मनोरथ'* दोनोंके साथ ले सकते हैं। इसे दीपदेहलीन्याय कहते हैं। *'सकल मनोरथ'* क्या है? सुन्दर मति हो, सुन्दर कविता बने और कविताका साधुसमाजमें आदर-सम्मान हो।

नोट—३ *'सादर बरने'* इति। प्रेम, उत्साह, सावधानतासे चित्त लगाकर कहना ही आदरसे कहना है। *'सादर'* पद देकर बतलाते हैं कि हरियश आदरपूर्वक वर्णन करना चाहिये। यथा—*'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥'* (१।१५) *'रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह।'* (बा० १११) इत्यादि। पुनः, 'सादर'=आदरके सहित। *'सादर'* कहनेका अभिप्राय यह है कि कविने अपने नायक और उनके चरित आदिका श्रद्धापूर्वक वर्णन किया है, वह उसका प्रिय विषय है। यह भी जनाया कि औरोंके चरित सामान्यतः वर्णन किये हैं, पर भगवच्चरित्र आदरसहित कहे हैं।

टिप्पणी—पूर्व ऐसा कह आये हैं कि *'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई।'* अब उन्हीं व्यास आदि मुनियोंकी वन्दना करते हैं जो कवि भी हैं। पहले रामरूप मानकर वन्दना की थी, अब रामचरितके नाते वन्दना करते हैं।

कलि के कबिन्ह करौं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा॥ ४॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने॥ ५॥
भये जे अहहिं जे होइहहिं आगें। प्रनवों सबहि[1] कपट सब[2] त्यागें॥ ६॥

शब्दार्थ—**परनामा**=प्रणाम। **गुनग्रामा**=गुणोंका समूह, यश।

अर्थ—कलियुगके (उन) सब कवियोंको (भी मैं) प्रणाम करता हूँ जिन्होंने श्रीरघुनाथजीके गुण-समूहोंका वर्णन किया है॥ ४॥ जो बड़े चतुर 'प्राकृत' कवि हैं जिन्होंने भाषामें हरिचरित कहा है॥ ५॥ और, जो (ऐसे कवि) हो गये हैं, मौजूद हैं या आगे होंगे, उन सबोंको सब कपट छोड़कर मैं प्रणाम करता हूँ॥ ६॥

१-सबनि—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सबहि—१६६१, रा० प्र०, १७०४। २-छल—१७२१, १७६२, छ०, रा० प०, मा० प्र०। सब- १६६१, १७०४, (शं० ना०), को० रा०।

कवियोंकी वन्दना

नोट—१ ग्रन्थकारने दोहा १४ की दूसरी अर्द्धालीमें प्रथम व्यास आदि अनेक श्रेष्ठ कवियोंकी वन्दना की। फिर कलियुगके कवियोंकी वन्दना चौथी अर्द्धालीमें की, तत्पश्चात् भूत, भविष्य, वर्तमानके भाषाके कवियोंकी वन्दना की।

व्यासादिको ***'कबि पुंगव'*** कहा, इसलिये उनकी वन्दनामें ***'चरन कमल बंदौं'*** पद दिया, जो विशेष सम्मानका द्योतक है। औरोंके लिये केवल ***'प्रनवौं'*** पद दिया है। व्यवहारकी शोभा इसीमें है कि जो जैसा हो, उसका वैसा ही सम्मान किया जावे।

उक्त तीनों स्थानोंमें हरियश वर्णन करना सबके साथ लिखा है। यथा, ***'जिन्ह सादर हरिसुजस बखाना'***, ***'जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा'***, ***'भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने।'*** ये विशेषण तीनों जगह देकर यह सूचित करते हैं कि हम उन्हीं कवियोंकी वन्दना कर रहे हैं जिन्होंने ***'हरिचरित'*** वर्णन किया है, जिन्होंने हरिचरित नहीं कहा, वे चाहे संस्कृतके कवि हों चाहे भाषाके, हम उनकी वन्दना नहीं कर रहे हैं।

यहाँ तीन प्रकारके कवियोंकी वन्दना की। व्यास आदि बड़े-बड़े कवि जो सत्ययुग, त्रेत्रा, द्वापरमें हुए, उनकी वन्दना प्रथम की। फिर कलिके कवियोंकी दो शाखाएँ कीं। (१४। ४) में ***'भाषा'*** पद न देकर सूचित किया कि कलियुगमें जो संस्कृतके कवि कालिदास, भवभूति आदि हुए हैं उनकी वन्दना करते हैं और अन्तमें भाषाके कवियोंकी वन्दना की।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि तीसरी शैलीमें भाषाके कवियोंको 'प्राकृत कबि' कहकर सूचित किया कि व्यास आदि अप्राकृत कवि हैं।

प्राकृत=साधारण, लौकिक (अर्थात् प्राकृतिक) गुणोंसे विशिष्ट। यथा, ***'यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ।'*** जिनका साधारण व्यवसाय यह है कि स्थूल प्रकृति विशिष्ट अदिव्य नायकोंका वर्णन करते हैं।

प्रोफे० दीनजी—***'जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा'*****······'**इति। संस्कृतमें करनेवालोंने कलियुगका विचार न किया कि संस्कृत कौन समझेगा और इन्होंने समयानुसार भाषामें किया; इसलिये ***'परम सयाने'*** विशेषण इनको दिया गया। ***'प्राकृत······'*** अर्थात् कलियुगमें जिन कवियोंने 'प्राकृत' भाषामें रामचरित बखाना और जिन्होंने भाषामें बखाना। दो तरहके कवि। ***'परम सयाने'*** दीपदेहली है।

द्विवेदीजी—***'प्राकृत कबि'*** ऐसा पद डालनेसे प्राकृतभाषाके कवि अर्थात् बौद्धमतके भी कवि जो हरि चरित्रानुरागी हैं उन्हें जना दिया।

☞ ***'प्राकृत'*** इति। इस शब्दके दो अर्थ लिये गये हैं। इसलिये यह भी बताना आवश्यक है कि ***'प्राकृत'*** भाषा कौन भाषा है। ईसवीसन्‌से तीन सौ वर्ष पूर्व अर्थात् आजसे दो हजार तीन सौ वर्ष-पूर्व भाषा प्राकृत रूपमें आ चुकी थी। पूर्वी प्राकृत 'पाली' भाषाके नामसे प्रसिद्ध हुई। संस्कृतके विकृत और वर्तमान हिन्दीकी प्रारम्भिक अवस्थाका नाम 'प्राकृत' था। चन्दबरदाईके पहले तथा सोलहवीं शताब्दीके आस-पासतक सर्वथा प्राकृतमें कविता होती थी। जैनग्रन्थ तथा अनेक बौद्धग्रन्थ भी प्राकृतहीमें हैं। वर्तमान हिन्दी अर्थात् सूरसेनी (व्रजभाषा), अवधी और मागधी आदिका सम्मिश्रण ही 'भाषा' है। भाषाका लक्षण बताया गया है कि 'संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनं च मागधम्। पारसीकमपभ्रंशं भाषाया लक्षणानि षट्॥' अर्थात् इन छहोंसे मिली हुई ज़बानका नाम 'भाषा' है। (बे० भू०)

नोट—२ **भए**=हुए। अर्थात् हमारे पहले जो हो गये हैं, जैसे चन्द कवि (जो भाषाके आदि कवि हुए जिनका 'पृथ्वीराज रासो' प्रसिद्ध ग्रन्थ है), और गंग आदि। '**अहहिं**=आजकल हमारे समयमें मौजूद हैं, वर्तमान। जैसे, सूरदासजी। **होइहहिं**=आगे होंगे, भविष्यके।

नोट—३ ***'कपट सब त्यागें'*** इति। (क) गोस्वामीजीने इन कवियोंको 'कपट त्याग' कर प्रणाम करना लिखा। मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि ये भाषाके कवि आपके सजातीय हुए, इससे उनको कपट-

छल त्यागकर प्रणाम करते हैं। (पांडेजी) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'संस्कृत-कवियोंके साथ छल-कपट करनेकी प्राप्ति नहीं, इसलिये उनसे छल-कपट त्याग करना न कहा। भाषाकवियोंके साथ छल-कपट होना सम्भव है। क्योंकि ये भी भाषाके कवि हैं, अत: इनसे सफाई की।' (ख) यहाँ 'कपट' क्या है? पं० रामकुमारजी कहते हैं कि ऊपरसे प्रणाम करना और भीतरसे बराबरीका अभिमान रखना कि ये भाषाके कवि हैं और हम भी तो भाषाके कवि हैं यही कपट है। छलसे प्रणाम नहीं करते कि मेरी कविताकी निन्दा न करें, बल्कि सद्भावसे प्रसन्न होनेके लिये प्रणाम करते हैं। आगे होनेवाले कवियोंको प्रणाम किया, इससे लोग यह अनुमान न करें कि छोटेको प्रणाम क्यों किया, अतएव ऐसा कहा कि छोटाई-बड़ाई या ऊँच-नीचका भेद न रखकर वन्दना करता हूँ। (वीरकवि)

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू॥ ७॥
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बालकवि करहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**प्रबंध**=रचना, काव्य। **बादि**=व्यर्थ, बेकार। **बाल**=बालकोंकी-सी बुद्धिवाले, तुच्छबुद्धि, मूर्ख।

अर्थ—आप सब प्रसन्न होकर वरदान दीजिये कि साधुसमाजमें कविताका आदर हो॥ ७॥ (क्योंकि) जिस कविताका आदर साधु नहीं करते उसका परिश्रम ही व्यर्थ है, मूर्ख कवि (व्यर्थ ही उसमें परिश्रम)करते हैं॥ ८॥

नोट—१सू०मिश्र अपने ग्रन्थकी साधुसमाजमें आदरकी प्रार्थना है। इससे यह न समझना चाहिये कि गोसाईंजी काव्यके यशको चाहते हैं। उनका आशय तो यह है कि रामचरित्र वर्णन करनेवालोंके भीतर भेदका नाम भी नहीं रहता, यथा—'*सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके॥*' अतएव गोसाईंजीने उनकी प्रार्थना की कि जो तत्त्वकी बात हो और उन लोगोंको प्रिय हो वे मुझपर कृपा करके उसका वर देवें।

नोट—२ साधुसमाजमें सम्मान हो यह वर माँगा। अब बताते हैं कि कविता कैसी होनी चाहिये कि जिसका साधु सम्मान करते हैं।

नोट—३ दो असम वाक्योंमें 'जो' 'सो' द्वारा समता दर्शाना 'प्रथम निदर्शना' है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ[1] हित होई॥ ९॥

शब्दार्थ—**कीरति**=कीर्त्ति, यश जो दान, पुण्य आदि शुभ कर्मोंसे हो, जैसे बाग लगाना, धर्मशाला, पाठशाला, बावली बनवाना, तालाब या कुँआ खुदवाना इत्यादि। **हित**=हितकर। **भूति**=ऐश्वर्य, जैसे अधिकार, पदवी, उहदा पाना, धनवान् होना। **भली**=अच्छी।

अर्थ—कीर्त्ति, कविता और ऐश्वर्य वही अच्छे हैं जो गङ्गाजीकी तरह सबको हितकर हों॥ ९॥

नोट—१ '***सुरसरि सम सब कहँ हित होई***' इति। राजा भगीरथने जन्मभर कष्ट उठाकर तपस्या की तब गङ्गाजीको पृथ्वीपर ला सके, जिससे उनके 'पुरुखा' सगरके ६०,००० पुत्र जो कपिलभगवान्‌के शापसे भस्म हो गये थे तरे और आजतक सारे जगत्‌का कल्याण उनके कारण हो रहा है। उनके परिश्रमसे पृथ्वीका भी हित हुआ। यथा—'*धन्य सो देस जहाँ सुरसरी।*' गङ्गाजी ऊँच-नीच, ज्ञानी-अज्ञानी, स्त्री-पुरुष आदि सबका बराबर हित करती हैं। '*सुरसरि सम*' कहनेका भाव यह है कि कीर्त्ति भी ऐसी हो जिससे दूसरेका भला हो। यदि ऐसे किसी कामसे नाम प्रसिद्ध हुआ कि जिससे जगत्‌को कोई लाभ न हो तो वह नाम सराहनेयोग्य नहीं। जैसे खुशामद करते-करते रायसाहब इत्यादि कहलाये अथवा प्रजाका गला घोंटने वा काटनेके कारण कोई पदवी मिल जाय। इसी तरह कविता पवित्र हो (अर्थात् रामयशयुक्त हो) और सबके लिये उपयोगिनी हो, जैसे गङ्गाजल सभीके काम आता है। (पं० रा० कु०) 'कविता' सरल हो, सबकी समझमें आने लायक हो, व्यर्थ किसीकी प्रशंसाके लिये न कही गयी हो, वरन्, '*निज संदेह मोह भ्रम हरनी*' होते हुए '*सकल जनरंजनी।*' और '*भव सरिता तरनी*' सम हो, सदुपदेशोंसे परिपूर्ण हो। जो ऐश्वर्य मिले तो उससे दूसरोंका उपकार ही करे, धन हो

१-कहीं-कहीं 'कर' पाठ आधुनिक प्रतियोंमें है।

तो दान और अन्य धर्मोंके कामोंमें लगावे। क्योंकि *'सो धन धन्य प्रथम गति जाकी।'* धनकी तीन गतियाँ कही गयी हैं। दान, भोग और नाश। सू० मिश्र कहते हैं कि 'कीर्त्ति, भणिति, भूतिकी समता गङ्गाजीसे देनेका कारण यह है कि तीनों गङ्गाके समान हैं। कीर्त्तिका स्वरूप स्वर्गद्वार है और अकीर्त्तिका नरकद्वार। यथा—'**कीर्त्तिस्वर्गफलान्याहुरासंसारं विपश्चितः। अकीर्त्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्॥**' अर्थात् पण्डित लोग कहते हैं कि कीर्त्ति स्वर्गदायक और अकीर्त्ति जहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं है ऐसे नरककी देनेवाली है। अतएव सबकी चाह कीर्त्तिकी ओर रहती है। वाणी उसका नाम है जिसके कथनमात्रसे प्राणिमात्रका पाप दूर हो जाय। '**तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः**' इति (भा० १। ५। ११)। भूतिका अर्थ धन है। '**धनाद्धि धर्मः प्रभवति**', '**नाधनस्य भवेद्धर्मः**' इत्यादि। पुनः, *'सुरसरि सम'''''* का भाव कि वेदादिका अधिकार सब वर्णोंको नहीं, प्रयागादि क्षेत्र एकदेशमें स्थित हैं, सबको सुलभ नहीं, इत्यादि और गङ्गाजी, गङ्गोत्तरीसे लेकर गङ्गासागरतक कीट-पतंग, पशु-पक्षी, चींटीसे लेकर गजराजादितक, चाण्डाल, कोढ़ी, अन्त्यज, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, रंक-राजा, देव-यक्ष-राक्षस आदि सभीका हित करती हैं। इसी तरह संस्कृत भाषा सब नहीं जानते, इने-गिनेहीका हित उससे होता है और भाषा सभी जानते हैं उसमें जो श्रीरामयश गाया जाय तो उससे सबका हित होगा। यह अभिप्राय इसमें गर्भित है।

नोट—२ (क) यहाँ '*सुरसरि सम हित*' कहा। आगे (१५। १-२)में वह '*हित*' कहते हैं। '*मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥*' (ख) तीन उपमेयोंका एक ही धर्म '*सब कहँ हित*' कहना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है। (ग) आगे भाषाकाव्यका अनुमोदन करते हैं।

राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अंदेसा॥ १०॥

शब्दार्थ—**असमंजस**=दुविधा, पशोपेश, सन्देह, सोच-विचार। यथा, '*असमंजस अस हृदय बिचारी बढ़त सोच'''''*', '*बना आइ असमंजस आजू*'; अयुक्त। **अंदेसा** (अंदेशा)=यह फारसी शब्द है जिसका अर्थ चिन्ता, फ़िक्र है। **सुकीरति**=सुन्दर उत्तम कीर्त्ति, निर्मल यश।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी कीर्त्ति (तो) सुन्दर है और मेरी वाणी भदेसी है। यह असामंजस्य है, यह असंगति है, इसकी मुझे चिन्ता है॥ १०॥

नोट—१ '*असमंजस अस मोहि अंदेसा*' इति। पं० रामकुमारजी—अगली चौपाईमें अपनी वाणीको टाट और रामयशको रेशम कहते हैं, जैसे रेशमी कपड़ेपर टाट (अर्थात् सनकी) बखिया (सीवन) भदेस है; वैसे ही भदेस वाणीमें सुन्दर यश कहना अच्छा नहीं लगेगा, यही असमंजस आ पड़ा है कि करें या न करें और इसीसे चिन्ता है।

नोट—२ करुणासिंधुजी श्रीरामजीकी कीर्त्तिके योग्य मेरी वाणी नहीं है, इससे असमंजस और चिन्ता है कि यदि संत इसे ग्रहण न करें तो न कहना ही भला है, परन्तु बिना कहे भी मन नहीं मानता।

नोट—३ पुनः, अन्देशा इसलिये है कि मेरी वाणीके कारण श्रीरामयशमें धब्बा न लगे। जैसा कहा है कि '*तुलसी गुरु लघुता लहत लघु संगति परिनाम। देवी देव पुकारिअत नीच नारि नर नाम॥*' (दोहावली ३६०)

तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे। सिअनि सुहावनि टाट पटोरे॥ ११॥

शब्दार्थ—**सिअनि**=सीवन, सिलाई, बखिया। **पटोरे** (पटोल)=रेशमी वस्त्र। **मोरे**=मुझे, मुझको।

अर्थ—(परन्तु) आपकी कृपासे यह बात भी मुझे सुलभ हो सकती है (कि वह मेरी भणित समुचित और सुसंगत हो जाय) जैसे रेशमकी सिलाईसे टाट भी सुशोभित होता है॥ ११॥*

नोट—१ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि इस मेरी वाणीके माहात्म्यसे मुझे लोग अभिमानी न समझें इसलिये '*राम सुकीरति*' इत्यादि दो चौपाइयोंसे अपनी वाणीको अधम ठहराया और उसे टाटके ऐसा बनाया। पण्डित, राजा और बाबूलोग सनके टाटको अधम समझकर उसपर नहीं बैठते, लेकिन साधारण लोगोंके

---

* अर्थान्तर—(२) रेशमकी सिलाई टाटपर भी सुहावनी लगती है। (मानसाङ्क, ना० प्र०) (३) टाटकी हो या रेशमकी हो, सिलाई अच्छी होनेपर सुहावनी लगती ही है। (वीरकवि)

लिये तो टाट ही प्रधान है। जहाँ दस भाई इकट्ठे होते हैं उसकी प्रशंसा 'वहाँ टाट पड़ा है' इस शब्दसे करते हैं; दिवालिया हो जानेसे कहते हैं कि उसका टाट उलट गया है। इस टाटमें रामचरित बर तागकी सीवन है इसलिये अच्छे लोग भी देखकर ललचेंगे, यह ग्रन्थकारकी उत्प्रेक्षा है।

नोट—२ मिश्रजी इस चौपाईसे ग्रन्थकार अपने मनको दृढ़ करते हैं कि सत्संगतिसे क्या-क्या नहीं हो सकता है। यद्यपि मेरी वाणी रामगुणवर्णन करनेके लायक़ नहीं, तथापि आपकी कृपासे हो जायगी।

नोट—३ यहाँ 'वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार' है। 'जैसे' और 'तैसे' शब्द लुप्त हैं जैसे रेशमकी सीवनसे टाट शोभित है उसी तरह श्रीरामचरितके योगसे मेरी वाणी भी सुहावनी लगेगी। (मा० प्र०)

नोट—४ '*सुलभ*' का भाव यह है कि भदेस वाणीसे रामयश कहना फबता नहीं, सो तुम्हारी कृपासे मुझे सुलभ है। (पं० रा० कु०)

'*सिअनि सुहावनि टाट पटोरे*' इति।

(क) पं० रामकुमारजी—रेशममें टाटकी सीवन भदेस है, सो भी सुहावनी हो जावेगी। अर्थात् वाणीकी भदेसता मिट जावेगी।

(ख) मा० प्र०—मेरी भदेस वाणीमें श्रीरामकीर्त्ति शोभित होगी, जैसे टाटपर रेशमकी सिलाई शोभित होती है।

(ग) श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि अब कुछ व्यंग्यसे लाड़ जनाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि हमारी वाणी श्रीरामकीर्त्तिके योग्य तो नहीं है, परन्तु आपकी कृपासे योग्यता भी सुलभ (सहज ही प्राप्त) हो जावेगी। क्योंकि सुन्दर रेशमके तागेसे अगर टाट अच्छी तरह सिया जावे (भाव यह है कि टाटपर रेशमकी बखिया अगर अच्छी की जावे) तो उससे टाटकी भी शोभा हो जाती है। इसी तरह टाटरूपी वाणीको श्रीरामयश बर तागसे मैं सीता हूँ। आप कृपा करें तो वह भी अच्छी लगेगी। श्रीरामयश रेशम उसमें भी चमकेगा।

(घ) श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि यहाँ काकोक्ति अलङ्कार है। सनसे पाटाम्बर सिला हुआ क्या अच्छा लगेगा? नहीं* । भाव यह है कि सनसे पाटाम्बर सियें तो देखनेवालोंको तो अच्छा कदापि नहीं लगेगा, वे हँसी उड़ावेंगे; परन्तु पहिननेवाले उसे अंगीकार कर लें तो निर्वाह हो जाता है; सीनेवालेका परिश्रम भी सफल हो जाता है। इसी तरह मेरी वाणीको आप अपनावेंगे तो वह भी सुहावेगी। पुन: वाल्मीकि, व्यास आदिकी संस्कृत कविताको रेशम और भाषा कविताको टाट-सम कहा है। जिन्हें 'सीत' रूपी प्रीति व्यापी है उन्हें टाट भी अच्छा लगेगा। (पं०, रा० प०)

बैजनाथजी—यदि कहो कि प्रभुकी कीर्त्ति तो उत्तम ही है और भाषा सबको सुलभ है तब उसके बनानेमें क्या असमंजस करते हो, तो उसपर कहते हैं कि नहीं। चाहे संस्कृत हो चाहे भाषा, काव्यकी बनावट सबमें अच्छी लगती है जैसे चाहे रेशमी वस्त्र हो चाहे टाट हो, यदि सिलाई अच्छी बने तो वह टाटमें भी अच्छी लगेगी और रेशममें भी। वही सीवनरूप सुन्दर काव्य करनेयोग्य नहीं हूँ वह भी आपकी कृपासे सुलभ है। क्या सुलभ है, यह आगे कहते हैं।

वे० भू० रा० कु० दा०—पूर्व जिन-जिन बातोंका निर्देश कर चुके हैं कि मेरी कविताका साधुसमाजमें सम्मान हो, पण्डित लोग आदर करें और गङ्गासमान सबको हितकर हो; भदेस होनेसे मेरी कवितामें अपने गुणोंसे उपर्युक्त बातोंको प्राप्त करनेकी स्वयं शक्ति नहीं है। आपकी कृपासे '*सोउ*' वह सब भी मेरी कविताको सुगमतासे प्राप्त हो जायेगी जिसकी कि मुझे आशा नहीं है क्योंकि '*सो न होइ बिनु बिमल मति*……'।

नोट—५ '*सुलभ सोउ मोरे*' इति। गोस्वामीजी यहाँ कहते हैं कि '*सुलभ सोउ मोरे।*' कौन-सी वस्तु सुलभ है? जिस वस्तुका सौलभ्य वे चाहते हैं वह उपर्युक्त चौपाईमें होनी चाहिये; परन्तु उसमें उसका निर्देश नहीं मिलता है। तो '*सोउ*' का प्रयोग किसके लिये किया है? इसका उत्तर यह है कि असमंजसके विरुद्ध-गुण-धर्मवाली बातका

* पहले जो बात कही है पीछे काकोक्तिसे उसके पुष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जब कोई अटपट बात कही जाती है तभी उसको काकोक्तिसे पुष्ट किया जाता है। यहाँ वैसी कोई बात नहीं है। (प्रोफे० दीनजी)

वे सौलभ्य चाहते हैं और उस भावका शब्द 'सामंजस्य' या 'सुसंगति' होगा। अतः उसका अध्याहार किया गया। इससे यह ज्ञात हुआ कि *'सोउ'* का प्रयोग 'सुसंगति' के लिये किया गया है और उसीका उनकी कृपासे होना मानते हैं। ***'राम सुकीरति भनिति भदेसा।'*** इस चौपाईमें पहिले ***'राम सुकीरति को'*** कहा है, फिर अपनी भणितिको ***'भदेसा'*** कहा है; इसी क्रमसे यथा-संख्यालङ्कारके अनुसार ***'सिअनि सुहावनि टाट पटोरे'*** के शब्दोंको भी होना चाहिये। अतः ***'राम सुकीरति'*** का उपमान ***'पटोरे सिअनि'*** और ***'भनिति भदेसा'*** का 'टाट' होना चाहिये। इससे इसका यही अर्थ हुआ कि 'रेशमकी सीवनसे टाट सुशोभित होगा।'

[1]करहु अनुग्रह अस जिय जानी। बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी॥ १२॥

शब्दार्थ—**अनुहरइ**=उसके अनुसार, योग्य, तुल्य वा सदृश हो, प्राप्त करे।

अर्थ—जीमें ऐसा जानकर कृपा कीजिये। निर्मल यशके योग्य सुन्दर वाणी हो जावे। [वा, वाणी विमल यशको प्राप्त करे। (मा० प०)]

'बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी' इति। भाव यह कि यदि आपके जीमें यह बात आवे कि देखो तो कैसा अनाड़ी है कि सुन्दर रेशम टाटमें सीता है तो मुझे अपना जानकर मुझपर कृपा करके पाटके लायक वस्त्र दीजिये। अर्थात् श्रीरामयशके लायक़ मेरी वाणी कर दीजिये। (करुणासिन्धुजी)

पं० रामकुमारजी—'ऐसा जीमें जानकर अनुग्रह करो कि रेशममें टाटकी सीवन है सो मेरी वाणी सुन्दर होके विमल यशमें अनुहरै अर्थात् रेशम सम हो जावे। रेशममें रेशमकी सीवन अनुहरित है।'

दो०—सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥ १४ (क)॥
सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति-बल अति थोरि।
करहु कृपा हरिजस कहउं पुनि पुनि करउं[2] निहोरि॥ १४ (ख)॥

शब्दार्थ—**सहज बयर**=स्वाभाविक वैर, जैसे चूहे-बिल्लीका, नेवले-साँपका, गौ-व्याघ्रका इत्यादि। यह वैर बिना किसी कार्य-कारणके होता है और किसी प्रकार भी जीते-जी नहीं छूट सकता। दूसरा कृत्रिम वैर है जो किसी कारणसे होता है और उस कारणके दूर हो जाने वा मान लेनेसे छूट जा सकता है, पर सहज वैर बराबर बना रहता है, कदापि नहीं छूटता। ***'सरल कबित' 'सरल'*** कविता वह है जिसमें प्रसाद गुण हो, और प्रसाद गुण वह है जिसके आश्रयसे सुनते-सुनते कविता समझमें आ जावे। **कीरति बिमल**='निर्मल कीर्त्ति। यथा, ***'बरनउँ रघुबर बिसद जस'*** (२९), ***'राम सुकीरति'*** (१४) ***'जिन्हहिं न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जस'*** (१४)। **बखान**=बड़ाई-सहित वर्णन, प्रशंसा। यथा, ***'मंदाकिनि कर करहिं बखाना।'***

अर्थ—जो कविता सरल हो और जिसमें निर्मल चरितका वर्णन हो उसीको सुजान आदर देते हैं और उसको सुनकर शत्रु भी सहज वैर छोड़कर सराहते हैं अर्थात् सरलता और निर्मल यश उसमें हों तो सुजान और वैरी दोनों आदर करते हैं।[3] सो (ऐसी कविता) बिना निर्मल बुद्धिके नहीं हो सकती और बुद्धिका बल मेरे बहुत ही थोड़ा है। आपसे बारम्बार विनती करता हूँ कि आप कृपा करें जिससे मैं हरियश कह सकूँ (अथवा मुझे हरियश कहना है अतएव आपकी कृपा चाहिये)॥ १४॥

१-१६६१ में यह अर्धाली थी पर उसपर फीका हरताल है। काशिराजकी छपाई हुई प्रति एवं छक्कनलालजी, भागवतदासजी, बाबा रघुनाथदास और अयोध्याजीके महात्माओंकी प्रतियोंमें यह अर्द्धाली पायी जाती है। अतः हमने भी लिया है।

२-कहौं निहोरि—१७२१, १७६२, छ०। करउँ निहोर—१६६१, १७०४, गौड़जी, को० रा०।

३-'जो कविता सरल हो और यश निर्मल हो उसीका आदर सज्जन करते हैं तथा उसीको सुनकर स्वाभाविक वैरी भी अपने वैरको छोड़कर उसका वर्णन करने लगते हैं'। विनायकी टीकाकार यह अर्थ करते हैं और लिखते हैं

टिप्पणी—१ *'सरल कबित कीरति.....'* इति। (क) कविता कठिन हो तो सुजान आदर नहीं करते और उसमें रामजीकी विमल कीर्त्ति न हो तो भी आदर नहीं करते। अर्थात् कविताहीमें सरलता और निर्मल कीर्त्ति दोनों होने चाहिये। यथा—*'भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥' 'रामनाम जस अंकित जानी॥ सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही।'* इत्यादि। (ख) **'जो सुनि करहिं बखान'** का भाव यह है कि प्रथम तो शत्रु सुनते ही नहीं और यदि सुनें भी तो *'बखान'* नहीं करते, सुनकर चुप रहते हैं। पर वे भी 'दिव्य कविता' को वैर भुलाकर सुनते और कहते हैं।

नोट—१ सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि नीति तो यही है कि सहज वैर, जैसे बिल्ली-चूहेका, न्योले-सर्पका, सिंह-हाथीका तो जीते-जी कदापि नहीं जाता पर गोस्वामीजीका कथन है कि उत्तम काव्य सहज वैरको भी हटा देता है, उसीमें यह शक्ति है कि स्वाभाविक स्वभावको हटाकर अपूर्व अविरोधी गुणको करता है। ऐसे काव्यके बनानेकी शक्ति मुझमें नहीं है। इसलिये आपलोगोंसे विमल मतिकी प्रार्थना करता हूँ; क्योंकि बिना इसके सरल कविता नहीं बन सकती, जिसकी सहज वैरी भी प्रशंसा करें। द्विवेदीजी लिखते हैं कि नैषधकार श्रीहर्षकी कविता सुनकर उनके पिताके शत्रु कान्यकुब्जेश्वरके दरबारके प्रधान पण्डितने भी हार मानकर प्रशंसा की और अपने स्थानपर श्रीहर्षको नियुक्त कर दिया; इसीपर श्रीहर्षने नैषधके अन्तमें लिखा है कि **'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्'** (सर्ग २२)

नोट—२ **'पुनि पुनि'**=बारम्बार कवि ऐसी प्रार्थना करते हैं। यथा, ***'होहु प्रसन्न देहु बरदानू', 'करहु अनुग्रह अस जिय जानी', 'करउ कृपा हरिजस कहउँ।'***

नोट—३ प्रायः रामचरितमानसके प्रेमी इसपर विचार किया करते हैं कि गोस्वामीजीके इस ग्रन्थका आदर देश-देशान्तरमें हो रहा है, इसका क्या कारण है? कोई आपकी दीनता ही इसका कारण कहते हैं। कोई और-और कारण बताते हैं। हमारी समझमें एक कारण इस दोहेसे ध्वनित होता है। सरलस्वभाव-कवि, वैसे ही सरल उनकी कविता, वह भी विमल यशसे अंकित, फिर क्यों न सर्वत्र आदरणीय हो! अवतारवादके कट्टर विरोधी, सगुण ब्रह्मके न माननेवाले, वैष्णवसिद्धान्तके कट्टर शत्रु इत्यादि पन्थाई एवं अन्य-अन्य मतावलम्बी लोग एवं भाषाके कट्टर विरोधी, भी इधर बराबर किसी-न-किसी रूपमें श्रीरामचरितमानसकी प्रशंसा करते देखे जा रहे हैं।

कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल।
बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल॥ १४ (ग)॥

शब्दार्थ—**कबि**=काव्यके सर्वांगोंको जानने और निर्दोष सर्व गुणोंसे विभूषित काव्यमें श्री हरियश गानेवाला

कि 'सरल कविताकी सराहना भाषाके विरोधी भी करने लगते हैं।.....और विमलकीर्त्ति जैसे अर्जुनके पराक्रमके सामने उनके शत्रु महारथी कर्णकी प्रशंसा श्रीकृष्णजीने की थी।' परन्तु यहाँ ऐसा अर्थ करनेसे कवितामें केवल एक ही गुणकी जरूरत टीकाकार जताते हैं कि वह सरल हो। क्या इतनेहीसे सज्जन उसका आदर करेंगे? कदापि नहीं। और न ग्रन्थकारहीका यह आशय है. वे तो बारम्बार कहते हैं कि कैसी ही अनूठी कविता क्यों न हो यदि वह हरियशसे युक्त नहीं है तो बुद्धिमान् उसका आदर न करेंगे। इससे जो अर्थ पूर्व-आचार्योंने किया है वही ठीक है, यह अर्थ सङ्गत नहीं। यदि यह कहा जाय कि पहले भी तो 'कीर्त्ति' और 'कविता' को अलग-अलग कह आये हैं। यथा, 'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥' तो जरा ध्यान देनेसे दोनों प्रसंगोंमें भेद जान पड़ेगा। देखिये, जब 'कीरति' 'भनिति' 'भूति' को अलग-अलग कहा तब यही कहा कि वह ही कीर्त्ति, भणित अच्छी है जो हितकर हो, इसका सज्जनोंसे आदर किया जाना नहीं कहा। पुनः 'बिमल जस' श्रीहरियशजीके लिये गोस्वामीजी अभी ही ऊपर कह आये हैं।

करु०, पं०, रा० प्र०, मा० प्र०के अनुसार हमने ऊपर अर्थ दिया है। परन्तु 'सोइ' और 'जो' का सम्बन्ध होता है उसके अनुसार अर्थ होगा—'कवित सरल और विमलयशयुक्त हो जिसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर छोड़कर सराहते हैं उसीका आदर सज्जन करते हैं।' बैजनाथजीने यह अर्थ दिया भी है। इसके अनुसार कविताका सज्जनोंमें आदर होनेके लिये तीन गुण चाहिये।

तथा सूक्ष्म दृष्टिवाला ही 'कवि' है। **कोबिद**=पण्डित। काव्याङ्गादि जाननेवाले, व्याकरण और भाषाओंके पण्डित भाष्यकार आदि 'कोविद' हैं। **मानस**=मानससरोवर। **सुरुचि**=सुन्दर इच्छा वा अभिलाषा।

अर्थ—कवि और कोविद जो रामचरितमानसरूपी निर्मल मानससरोवरके सुन्दर हंस हैं, वे मुझ बालककी विनती सुनकर और सुन्दर रुचिको जानकर मुझपर कृपा करें।

नोट—१ (क) मंजु=मंजु मानस, मंजु मराल (दीपदेहरी-न्यायसे)। सुन्दर हंस कहनेका भाव यह है कि जैसे हंस मानसरोवर छोड़ कहीं नहीं जाते क्योंकि वे ही उसके गुणोंको भलीभाँति जानते हैं, वैसे ही आप रामचरितहीके श्रवण, मनन, कीर्त्तनमें अपना समय बिताते हैं। यथा— '**सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ'''''कवीश्वरकपीश्वरौ**॥' (मं० श्लो०) आप भूलकर भी और काव्य न करते, न गाते, न सुनते और न देखते हैं। (ख) वे० भू० रा० कु० दा० जी कहते हैं कि इस ग्रन्थमें तीन प्रकारके हंसोंका उल्लेख पाया जाता है। हंस, राजहंस और कलहंस। क्षीरनीरविवरणविवेकमात्र जिनको है उनको *'हंस'* कहा है। यथा—*'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।'* (१।६) *'अस बिबेक जब देइ बिधाता।'* *'सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥'* (२।२३२) राजहंसमें चालकी प्रधानता है। यथा—*'सखी संग लै कुँअरि तब चलि जनु राजमराल।'* (१।१३४) कलहंस वे हैं जिनमें सुन्दर बोलीकी प्रधानता है। यथा— *'कल हंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा॥'* (१।८६) *'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा'* (३।४०) यहाँ मरालके साथ *'मंजु'* विशेषण देकर भगवच्चरित्रके कवि-कोविदोंको तीनों गुणोंसे सम्पन्न सूचित किया, इसीलिये इनके सम्बन्धसे अपने बारेमें तीन क्रियाएँ *'सुनि', 'लखि'; 'होहु कृपाल'* दी गयी; जो सम्भवत: हंस, कलहंस और राजहंसके गुणोंका द्योतक है। (ग) पं० सुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि मानसमंजुमरालसे महादेवजीका ग्रहण करना चाहिये। जिस कर्ममें जो प्रधान रहता है उस कर्मके आरम्भमें लोग पहले उसीका ध्यान करते हैं; जैसे लड़नेके समय महावीरजीका। इसी प्रकार आगे वाल्मीकिजीका स्मरण है। (घ) गोस्वामीजीने श्रीभरतजीके प्रसंगमें *'मंजुमराली'* की उपमा दी है। यथा—*'हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥'* *'बिमल बिबेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥'* (२।२९७) इसके अनुसार निर्मल विवेक और धर्मनीतिशाली होनेसे *'मंजु मराल'* का रूपक दिया जाना सम्भव है। वे मानसके ही सुन्दर कमलवनमें विचरा करते हैं। यथा—*'सुरसर सुभग बनज बनचारी।'* (२।६०) उसी समानताके लिये यहाँ *'मराल'* की उपमा दी। पुन: हंस प्राकृत मानससरमें विचरते हैं और ये कविकोविद अप्राकृत श्रीरघुवरचरित मानस-सरमें विचरते हैं, इससे इनको *'मंजु मराल'* कहा। वा, और अवतारोंके चरित गानेवाले 'मराल' और रघुवरचरितमानसमें विहार करनेवाले होनेसे *'मंजु मराल'* कहा। (ङ) *लखि*—'मनकी बात भाँप लेना' ही लखना कहलाता है। यथा—*'लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंड।'* (१।२५९), *'लषन लखेउ प्रभु हृदय खँभारू।'* (२।२२७)

टिप्पणी—पं० रामकुमारजी—(१) *'बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि'* कृपा करनेको कहते हैं। इसका भाव यह है कि मुझमें एक यही बात है जिससे आप मेरे ऊपर कृपा कर सकते हैं, और वह यह है कि मैं आपका बालक हूँ और मेरे मनमें सुन्दर चाह है। इसे छोड़ आपके कृपा करनेके लायक मुझमें और कुछ नहीं है। (२) 'बालक' कहनेका भाव यह है कि आप रामचरितमानसके हंस हैं, मैं आपका बालक हूँ, मुझे भी रामचरितमानसका आनन्द दीजिये। (३) गोस्वामीजीने संतोंसे पुत्र-पिताका नाता रखा है। यथा—*'बाल बिनय सुनि करि कृपा,' 'बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि''''''।'*

कवि-वन्दना-प्रकरण समाप्त हुआ।

समष्टिवन्दना

सो०—बंदौं मुनिपदकंज, रामायन जेहिं निरमयेउ।
स खर सुकोमल मंजु, दोषरहित दूषन सहित॥१४(घ)॥

शब्दार्थ—**निरमयेउ**=निर्माण किया, रचा, बनाया, उत्पन्न किया। **सखर** (स+खर)=खर-(राक्षस-) सहित; अर्थात् खरकी कथा इसमें है। दूषन (दूषण) खर राक्षसका भाई। अरण्यकाण्डमें दोनोंकी कथा है।

अर्थ—मैं (वाल्मीकि), मुनिके चरणकमलकी वन्दना करता हूँ, जिन्होंने रामायण बनायी, जो 'खर'सहित होनेपर भी अत्यन्त कोमल और सुन्दर है, और दूषण-(राक्षस-) सहित होनेपर भी दोषरहित है॥ १४॥

नोट—१ करुणासिंधुजी लिखते हैं कि यहाँ गोस्वामीजी वाल्मीकिजीकी 'स्वरूपाभिनिवेश वन्दना' करते हैं जिससे मुनिवाक्य श्रीमद्रामायणस्वरूप हृदयमें प्रवेश करे। नमस्कार करते समय स्वरूप, प्रताप, ऐश्वर्य, सेवा जब मनमें समा जाते हैं तो उस नमस्कारको 'स्वरूपाभिनिवेश वन्दना' कहते हैं।

नोट—२ '*सखर*' और '*दूषणसहित*' ये दोनों पद श्लिष्ट हैं। पहलेका एक अर्थ कठोरता और कर्कशतायुक्त होता है और दूसरा अर्थ 'खर नामक राक्षसके सहित' है। दूसरेका एक अर्थ '*दोषसहित*' और दूसरा 'दूषण नामक राक्षसके प्रसंगसमेत' होता है। अतः यहाँ श्लेषालंकार है। इनके योगसे उक्तिमें चमत्कार आ गया है। भाव यह है कि इस रामायणमें कठोरता, कर्कशता नहीं है। कठोरताके नामसे 'खर' राक्षसका नाम ही मिलेगा और दोषरहित है, दोषके नामसे इसमें 'दूषण' राक्षसका नाम ही मिलेगा। पुनः सखर होते हुए भी सुकोमल है और दोषरहित होते हुए भी दूषणसहित है इस वर्णनमें 'विरोधाभास' अलङ्कार है।

नोट—३ इस सोरठेको शेखर कविके '**नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा। सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला॥**' इस श्लोकका अनुवाद कह सकते हैं। गोस्वामीजीने उत्तरकाण्डमें भी लगभग इसी प्रकार कहा है। यथा, '*दंड जतिन्ह कर, भेद जहँ नर्तक नृत्यसमाज। जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र के राज॥*' (७। २२) इस प्रकार विचार करनेसे यहाँ 'परिसंख्यालङ्कार' भी है।

'*सखर सुकोमल*.....*सहित*' इति। इस उत्तरार्धके अर्थ टीकाकारोंने अनेक प्रकारसे लिखे हैं। कुछ ये हैं—

(१) 'वह रामायण सखर अर्थात् सत्यताके सहित है (खर=सत्य। यथा, '*कर्म उपासन ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो*') कोमलतासहित है, स्वच्छताके सहित है और दोष-दूषणसे रहित है। ('रहित' शब्द दीपदेहली-न्यायसे दोनोंमें है)। काव्यमें दोष-दूषण अर्थात् रोचक, भयानक वचन भी हुआ करते हैं सो इसमें नहीं हैं, इससे 'खर' (यथार्थ) वचन हैं।' खर-दूषणसे राक्षसका अर्थ करनेमें दोष उपस्थित होता है। यदि ग्रन्थकारको राक्षसोंकी कथाका सम्बन्ध लेकर ही वन्दना करना अभिप्रेत होता तो रावण-कुम्भकर्णका ही नाम लिखते। यह 'भाव-दोष' कहलाता है। (नंगे परमहंसजी)

(२) यह रामायण कैसी है? उत्तरार्द्ध सोरठेमें कहते हैं कि वह कठोरतासहित है। (क्योंकि इसमें अधर्मियोंको दण्ड देना पाया जाता है), कोमलतायुक्त है (क्योंकि इसमें विप्र, सुर, संत, शरणागत आदिपर नेह, दया, करुणा करना पाया जाता है), मंजु है (क्योंकि उसमें श्रीरामनामरूप लीलाधामका वर्णन है जिसके कथन, श्रवणसे हृदय निर्मल हो जाता है), दोषरहित है (क्योंकि अन्य ग्रन्थका अशुद्ध पाठ करना दोष है और इसके पाठमें अशुद्धताका दोष नहीं लगता), दूषण भी इसमें हितकारी ही है, क्योंकि अर्थ न करते बनना दूषण है सो दूषण भी इसमें नहीं लगता, पाठ और अर्थ बने या न बने इससे कल्याण ही होता है, क्योंकि इसके एक-एक अक्षरहीके उच्चारणसे महापातक नाश होता है। प्रमाण, यथा—'**चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥**' (रुद्रयामल, अयोध्यामाहात्म्य १। १५)

(३) '*सखर*'(अर्थात् कठोर स्वभाववालों) को कोमल और निर्मल करती है, जो दूषणयुक्त हैं उनको भी दोषरहित करती है।

(४) '*मुनिपद*' सखर अर्थात् तीक्ष्णसहित हैं (क्योंकि उपासकोंके पाप नाश करते हैं), सुकोमल हैं क्योंकि भक्तोंके हृदयको द्रवीभूत करते हैं, मंजु (उज्ज्वल) हैं (क्योंकि अहंतारूपी मलको निवृत्त करते हैं), दोषरहित हैं। तपादि करके स्वयं निर्मल हुए और दर्शन करनेवालोंको भी दोषरहित करते हैं और दूषण अर्थात् पादुकासहित हैं'। पुनः वह रामायण कैसी है? सखर है अर्थात् उसमें युद्धादि तीक्ष्ण प्रसंग हैं, उसके पदोंकी रचना कोमल है, मंजु अर्थात् मनोहर है, दोषरहित अर्थात् काव्यके दोष उसमें नहीं हैं। अथवा सखर है अर्थात् श्रीरामजीका सखारस इसमें वर्णित है। सुग्रीव, गुह और विभीषणसे सखाभाव वर्णित है। कोमल, मंजु और दोषरहित तीनों विशेषण सखाभावमें लगेंगे। कोमल सुग्रीवके सम्बन्धमें कहा,

क्योंकि उनके दुःख सुनकर हृदय द्रवीभूत हो गया, अपना दुःख भूल गया। गुहकी मित्रताके सम्बन्ध में.'**मंजु**' कहा क्योंकि उसको कुलसमेत मनोहर अर्थात् पावन कर दिया। दोषरहित-दूषणसहित विभीषणके सम्बन्धसे कहा। शत्रुका भ्राता और राक्षसकुलमें जन्म दूषण हैं, उन्हें दोषरहित किया। (पं०)

(५) भक्तिके जो पाँच रस हैं उनसे युक्त है। ***'सख रस कोमल मंजु'*** अर्थात् उसमें सख्यरस है, कोमल रस अर्थात् वात्सल्यरस है, मंजु अर्थात् शृङ्गाररस है, दोषरहित रस है, अर्थात् शान्तरस दूषणसहित (अर्थात् दास्य) रस है। दास्यको दूषणसहित कहा, क्योंकि पूर्ण दास्यरस तब हो जब स्वामी जिस राहमें पदसे चले सेवक उस राहमें सिरके बल चले, सो ऐसा होनेको नहीं। यथा—***'सिर भर जाउं उचित अस मोरा। सब ते सेवक धरम कठोरा॥'*** (मा० प्र०)

(६) मुनिपदकंज सखर अर्थात् बड़े उदार दाता हैं, स्मरण करनेसे कामप्रद हैं; मंजु हैं अर्थात् ध्यानियोंके चित्तके मलको हरते हैं; सुकोमल हैं; दोषरहित अर्थात् निष्कण्टक हैं। कमल कण्टकयुक्त है इसीसे दूषणसहित कहा। (बाबा हरिदास)

(७) वे० भू० रा० कु० दा०—मेरी समझमें तो यहाँ खर और दूषण राक्षसोंका अभिप्राय नहीं है। ये तो सभी रामायणोंमें हैं तब वाल्मीकीयमें विशेषता ही क्या रह गयी? यहाँ कविताकी वृत्तियोंसे अभिप्राय है। कवितामें प्रधान तीन वृत्तियाँ हैं। उपनागरिका या वैदर्भी; परुषा या गौडी और कोमला या पाञ्चाली। यहाँ उपनागरिका या वैदर्भी वृत्तिके लिये ही श्लोकमें 'रम्या' और सोरठेमें 'मंजु' पद आया है। रम्या या मंजु होनेसे ही वैदर्भी वृत्तिके लिये ही कहा गया है कि '**धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि॥**' परुषा या गौडीके लिये तो परुषका पर्यायवाची ही 'खर' शब्द है और कोमलता वृत्तिके लिये 'कोमल' शब्द है। निष्कर्ष यह कि मुनिकृत रामायण प्रधान वृत्तित्रयसे परिपूर्ण है। कवितामें अनेक दोष आ सकते हैं। पीयूषवर्षी जयदेवने 'चन्द्रालोक' में लगभग चालीस दोष लिखे हैं। मुनिकृत रामायण उन दोषोंसे सर्वथा रहित है। झूठ बोलना या लिखना दोष है और सत्य बोलना या लिखना दोष नहीं है, परन्तु अप्रिय सत्य दोष तो नहीं किंतु दूषण अवश्य है। इसीसे मनुने कहा है, '**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्**' और मानसमें भी कहा है, ***'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।'*** वाल्मीकिजीने कई जगह अप्रिय सत्य कहा है। जैसे लक्ष्मणजीका पिताके लिये कठोर वचन बोलना और श्रीरामजीका श्रीसीताजीको दुर्वाद कहना, सीताजीका लक्ष्मणजीको मर्म वचन कहना इत्यादि। गोस्वामीजीने इन अप्रिय सत्योंको स्पष्ट न कहकर अपने काव्यको अदूषण बना दिया। अर्थात् ***'लखन कहेउ कछु बचन कठोरा', 'मरम बचन जब सीता बोला', 'तेहि कारन करुना निधि कहे कछुक दुर्बाद'*** कहकर उस सत्यका निर्वाह कर दिया परन्तु अप्रियतारूप दूषण न आने दिया। इसीलिये तो मुनिकी रामायणको 'मंजु' और अपनी भाषारामायणको '**अति मञ्जुलमातनोति**' कहा है। (प्रेमसंदेशसे)

नोट—४ ***'बंदौं मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ'*** इति। (क) वाल्मीकिजी मुनि भी थे और आदिकवि भी। ये श्रीरामचन्द्रजीके समयमें भी थे और इन्होंने श्रीरामजीका उत्तरचरित पहलेहीसे रच रखा था। उसीके अनुसार श्रीरामजीने सब चरित किये। इन्होंने शतकोटिरामचरित छोड़ और कोई ग्रन्थ रचा ही नहीं। कहीं इनको भृगुवंशमें उत्पन्न प्रचेताका वंशज कहा है। (श० सा०)

स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड वैशाखमासमाहात्म्यमें श्रीरामायणके रचयिता वाल्मीकिकी कथा इस प्रकार है कि ये पूर्वजन्ममें व्याधा थे। इनको महर्षि शंखने दया करके वैशाखमाहात्म्य बताकर उपदेश किया कि तुम श्रीरामनामका निरन्तर जप करो और आजीवन वैशाखमासके जो धर्म हैं उनका आचरण करो, इससे वल्मीक ऋषिके कुलमें तुम्हारा जन्म होगा और तुम वाल्मीकि नामसे प्रसिद्ध होगे। यथा—'**तस्माद् रामेति तन्नाम जप व्याध निरन्तरम्। धर्मानेतान् कुरु व्याध यावदामरणान्तिकम्॥**' '**ततस्ते भविता जन्म वल्मीकस्य ऋषेः कुले। वाल्मीकिरिति नाम्ना च भूमौ ख्यातिमवाप्स्यसि॥**' (५६) उपदेश पाकर व्याधाने वैसा ही किया। एक बार कृणु नामके ऋषि बाह्यव्यापारवर्जित दुश्चर तपमें निरत हो गये। बहुत समय बीत जानेपर उनके

शरीरपर दीमककी बाँबी जम गयी इससे उनका नाम वल्मीक पड़ गया। इन वल्मीक ऋषिके वीर्यद्वारा एक नटीके गर्भसे उस व्याधाका पुनर्जन्म हुआ। इससे उसका नाम वाल्मीकि हुआ जिन्होंने रामचरित गान किया। दूसरी कथा '***बालमीक नारद घटजोनी।***' (३। ३) में पूर्व लिखी गयी है।

नोट—५ '***मुनि***' तो अनेकों हो गये हैं जिन्होंने रामायणें रचीं, तब यहाँ मुनिसे वाल्मीकिहीको क्यों लेते हो ? उत्तर यह है कि (क) अन्य मुनियोंने पुराण-संहिता आदिके साथमें रामायण भी कहा है, रामायणगान गौण है जो प्रसंग पाकर कथन किया गया है और वाल्मीकिजीने रामायण ही गान किया, अन्य काव्य नहीं। (ख) '**निरमयेउ**' शब्द भी 'वाल्मीकि' को ही सूचित करता है, क्योंकि '**आदिकाव्य**' रामायणका यही है, इन्हींने प्रथम-प्रथम काव्यमें रचना की। (ग) यहाँ भी गोस्वामीजीके शब्द रखनेकी चतुरता दृष्टिगोचर हो रही है। '***रामायन***' शब्द देकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वाल्मीकिजीकी ही वन्दना वे कर रहे हैं। श्रीमद्रामायण शब्द केवल वाल्मीकीय रामायणके लिये प्रयुक्त किया जाता है, अन्यके लिये नहीं; अतः यहाँ उन्हींकी वन्दना है।

नोट—६ रामायणमें तो रावण-कुम्भकर्ण मुख्य हैं, उनका नाम न देकर 'खर', 'दूषण' का क्यों दिया? इस शंकाका समाधान एक तो अर्थहीसे हो जाता है कि कविको 'खरता' (कठोरता) और 'दोष' के नामके पर्याय ये ही दो शब्द मिले, रावण और कुम्भकर्ण शब्दोंमें यह अलङ्कार ही नहीं बनता और न वे काव्यके अङ्गोंमें आये हैं। और भी इसका समाधान महात्मा यों करते हैं कि रावण-युद्ध और उसका वध होनेमें मुख्य कारण शूर्पणखा हुई। खर-दूषणादि रावणकी तरफसे जनस्थानमें शूर्पणखासहित रहते थे। ये दोनों रावणके समान बलवान् थे, जैसा रावणने स्वयं कहा है—'***खर दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता।***' (अ० २३) वाल्मीकीयमें जैसा पराक्रम इन्होंने दिखलाया वह भी इस बातका साक्षी है। रावणके वैर और युद्धका श्रीगणेश इन्हींसे हुआ। इस कारण इनका नाम दिया है। पुनः, गोस्वामीजीकी यह वन्दना तो शेखर एवं महारामायणकी वन्दनाके अनुसार है। जो विशेषण वहाँ थे, वही यहाँ दिये गये।

सो०—बंदौ चारिउ बेद, भव बारिधि बोहित सरिसु।
जिन्हहिं न सपनेहु खेद, बरनत रघुबर बिसद जसु॥ १४ (ङ)॥

शब्दार्थ—**बारिधि**=समुद्र। **बोहित**=जहाज, नाव, बेड़ा। यहाँ समुद्रके लिये 'जहाज' अर्थ ठीक है। **खेद**=क्लेश, परिश्रम।

अर्थ—मैं चारों वेदोंकी वन्दना करता हूँ जो संसारसमुद्रके लिये जहाजके समान हैं। जिन्हें रघुनाथजीका निर्मल यश वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता॥ १४॥

नोट—१ भाव यह है कि श्रीरामचरित वेदोंका प्रिय विषय है, इसलिये वे उसे उत्साहपूर्वक गान करते हैं।

टिप्पणी—१ पहले व्यासजी, फिर क्रमसे वाल्मीकिजी, वेदों और ब्रह्माजीकी वन्दना करना भी भावसे खाली नहीं है। व्यासजी भगवान्‌के अवतार हैं। वाल्मीकिजी प्रचेताऋषिके पुत्र हैं। इसलिये व्यासजीकी वन्दना इनसे पहले की। वाल्मीकिजीके पीछे वेदोंकी वन्दना की, क्योंकि इनके मुखसे वेद रामायणरूप होकर निकले। यथा—'**स्वयम्भूः कामधेनुश्च स्तनाश्च चतुराननाः। वेददुग्धामलं शुक्लं रामायणरसोद्भवम्॥**' (स्क० पु०) [वेद प्रथम-प्रथम भगवान्‌ने ब्रह्माजीके हृदयमें प्रकट किया था। यथा—'**तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये**' (भा० १। १। १), '**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै**' (श्वेता० उ० ६। १८) अर्थात् जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न कर उनके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है।] वाल्मीकिजी और ब्रह्माजीके बीचमें वेदोंकी वन्दना की; क्योंकि ब्रह्माजीके मुखसे वेद निकले और उनके मुखसे रामायण। ब्रह्माजीके पहले वाल्मीकिजीकी वन्दना करनेका हेतु यह है कि यहाँ रामायणहीका वर्णन है, इसलिये रामायणके आचार्यको प्रथम स्थान देना उचित ही था। ब्रह्माजीकी वन्दना करके अन्य देवताओंकी

वन्दना करते हैं। (बैजनाथजी लिखते हैं कि रामायणका कर्त्ता जान वाल्मीकिजीकी और उसका पूर्वरूप जान वेदोंकी वन्दना की और वेदोंका आचार्य जान ब्रह्माकी वन्दना की।)

नोट—२ सन्त श्रीगुरुसहायलालजीका मत है कि 'बोहित' से वे जहाज समझने चाहिये जो युद्ध-समय प्रायः जलके भीतर-ही-भीतर चलते हैं। वेदरूपी जहाज भवसागरके जलके भीतर रहकर मोहदलका नाश भीतर-ही-भीतर कर डालते हैं।

नोट—३ *'बरनत रघुबर बिसद जसु'* इति। यहाँ प्रायः यह शङ्का की जाती है कि 'वेदोंमें रघुनाथजीका यशवर्णन तो पाया नहीं जाता फिर गोस्वामीजीने यह कैसे लिखा?' समाधान—गोस्वामीजी वैष्णव थे, श्रीरामभक्त थे। अवतारके स्वीकारहीसे भक्ति शुरू होती है। जिसको कोई-कोई लोग निराकार, निर्गुण इत्यादि ब्रह्म कहते हैं, उसीको हमारे परमाचार्य श्रीमद्गोस्वामीजी साकार, सगुण इत्यादि कहते हैं और यह मत श्रुतियों-पुराणों-संहिताओं इत्यादिमें प्रतिपादित भी है। श्रीमद्भगवद्गीताके माननेवालोंको भी यह बात माननी ही पड़ती है। गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसमें ठौर-ठौर इसी बातको दृढ़ किया है, अवतारहीकी शङ्का तो 'रामचरितमानस' का मुख्य कारण बीजस्वरूप है। *'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ व्यापक बिश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥'* (१। १३) पुनः *'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥', 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥', 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥, पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ। रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ॥'* (११६), *'आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥ बिनु पद चलै सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना॥ आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥ तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥ अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥ जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥'* (११८) *'व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥'* (१९८) *'सुख संदोह मोहपर ज्ञान गिरा गोतीत। दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत॥'* (१९९) इत्यादि।

जब यह बात श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादिसे भी सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा अवतीर्ण होते हैं और रघुकुलमें श्रीचक्रवर्ती दशरथमहाराजको उन्होंने पुत्ररूपसे सुख दिया और 'राम' 'रघुबर' कहलाये तो फिर क्या 'परब्रह्म परमात्माका गुणगान' और 'रघुबर विशद यशगान' में कुछ भेद हुआ? दोनों एक ही तो हैं। सगुनोपासक परमात्मा शब्द न कहकर अपने इष्टदेवहीके नामसे उसका स्मरण किया करते हैं। वेदोंका रामायणरूपमें प्रकट होनेका प्रमाण ऊपर आ ही चुका है। दूसरा प्रमाण श्रीवाल्मीकीय रामायणके श्रीलवकुशजी-कृत मङ्गलाचरणमें यह है। **'वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥'** फिर वेदका जो संकुचित अर्थ शङ्का कर्त्ताके दिमागमें है वह अर्थ वेदका नहीं है। पूर्व **'नानापुराणनिगमागम......'** मं० श्लो० ७में 'वेद' से क्या-क्या अभिप्रेत है यह कुछ विस्तारसे लिखा गया है। वहाँ देखिये। वेदोंके शिरोभाग उपनिषद् हैं, उनमें तो स्पष्ट ही रघुवरयश भरा है।

पुनः, वेद तो अनन्त हैं। वह इतने ही तो हैं नहीं, जितने आज हमको प्राप्त हैं। जैसे रामायण न जाने कितने हैं, पता नहीं और जो महारामायण, आदिरामायण इत्यादि भी हैं, वे भी पूरे-पूरे उपलब्ध नहीं। देखिये, यवनोंने छः मासतक बराबर काश्मीरका पुस्तकालय दिन-रात जलाकर उसीसे अपने फौजकी रसोई की। क्या ऐसा अमूल्य पुस्तकोंका खज़ाना संसारमें कहीं भी हो सकता है?

टिप्पणी—२ *'बरनत रघुबर बिसद जसु'* से सूचित किया कि चारों वेद रामयश ही कहते हैं। यथा, *'ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं'* (उ० वेदस्तुति)। इसलिये *'बोहित सरिस'* हैं, रामायणके प्रतापसे सबको पार करते हैं।

टिप्पणी—३ *'जिन्हहिं न सपनेहु खेद'* इति। तात्पर्य यह है कि औरोंको रामचरित जाननेमें खेद है और वेद तो भगवान्‌की वाणी हैं, इसलिये इनको जाननेमें कुछ संदेह नहीं है।

करुणासिन्धुजी—श्रीरामजीका विशद यश वर्णन करते हैं, यही कारण है कि उनको स्वप्नमें भी खेद नहीं होता, जागतेकी तो कहना ही क्या। (रा० प्र०)

विनायकी टीका—वेद रामायणरूपमें अवतीर्ण हुए हैं, इसीसे गोस्वामीजी लिखते हैं कि उनको लेशमात्र क्लेश नहीं होता।

बैजनाथजी—रामयशमें सदा उत्साह है अतः श्रम नहीं होता।

नोट—४ पाँडेजीका मत है कि ये विशेषण सहेतुक हैं। गोस्वामीजी चाहते हैं कि मुझे भी रामचरित-वर्णन करनेमें खेद न हो।

मानस-तत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि इसका भाव यह है कि रामचरितके परमतत्त्वको वेदकी युक्ति, अनुभव, सिद्धान्तप्रमाणोंको लेकर वर्णन कीजिये तो किञ्चित् खेद जरामरण इत्यादिका न रहे।

नोट—५ वेद परमात्माके ज्ञानके स्वरूप ही हैं, वे भगवान्‌के ऐश्वर्यचरितभूत हैं, स्वतः यश ही हैं। उनका भगवद्-यश-वर्णन सहज सिद्ध है।

सो०—बंदौं बिधि पद रेनु, भवसागर जेहिं कीन्ह जहं।
संत सुधा ससि धेनु, प्रगटे खल बिष बारुनी॥ १४॥ (च)

अर्थ—मैं ब्रह्माजीके चरणरजकी वन्दना करता हूँ, जिन्होंने भवसागर बनाया है, जहाँ (जिस संसाररूपी समुद्रसे) सन्तरूपी अमृत, चन्द्रमा और कामधेनु निकले और खलरूपी विष-वारुणी प्रकट हुए॥ १४॥*

टिप्पणी—१ (क) **'पद रेनु'** की वन्दनाका भाव यह है कि ब्रह्माजीने भवसागर बनाया और भवसागरका सेतु ब्राह्मणपदरेणु है। यथा—**'अपारसंसारसमुद्रसेतवः पुनन्तु मां ब्राह्मणपादपांसवः।'** (प० पु० अ० २५५। ५७) (ख) *'प्रगटे'* देहलीदीपक है। *'संतसुधाससिधेनु प्रगटे'* तथा *'खलबिषबारुणी प्रगटे'*।

नोट—१ संसारको समुद्र कहा। समुद्रसे भली-बुरी दोनों तरहकी वस्तुएँ निकलीं। उसी तरह संसारमें संत और खल दोनों उत्पन्न हुए।

नोट—२ (क) संसारसमुद्रमें अमृत, चन्द्रमा और कामधेनुसदृश सन्त हैं। अमृत जीवनस्वरूप और अमरत्वदायक है, वैसे ही सन्त सच्चिदानन्दस्वरूप और जीवन्मुक्त हैं। उनके मन, कर्म, वचन अमृतके समान सुन्दर और मधुर हैं, उनके वचनको अमृत कहा ही जाता है। **'सुधामूचूर्वाचः।'** चन्द्रमाकी तरह शीतल और उज्ज्वलचरित हैं। उसी तरह कामधेनुके समान वे उपकारक और सरलप्रकृति हैं। पुनः (ख) इन तीनों उपमानोंमें शुभ्रता, सुन्दरता, मधुरता और परोपकारता है। उसी तरह सन्तोंका स्वरूप और चरित सब प्रकारसे मंजु और सुखद हैं। पुनः (ग)—नारदसूत्रमें भक्तिको *'परम प्रेमरूपा' 'अमृतस्वरूपा'* कहा गया है। **'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥'** (भक्ति-सूत्र २) इस भक्तिको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है, फिर उसे किसी पदार्थकी चाह नहीं रह जाती। सन्तको सुधास्वरूप कहनेमें यह तात्पर्य है कि वे जीवोंको भक्ति प्रदान कर उनको भी अमरत्व देते हैं। भुशुण्डिजीने कहा ही है—*'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहंगवर॥'* (७। ७९) पुनः, (घ) (बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि) सन्तको अमृत, चन्द्रमा और धेनुकी उपमा देकर जनाया कि सन्त तीन प्रकारके हैं, कोई तो सुधारूप हैं, जैसे जडभरत आदि जिन्होंने रहूगणको विज्ञान देकर अमर कर दिया और संसाररूपी रोग छुड़ाकर

* अर्थ—२ जिसमें सन्त, अमृत, चन्द्रमा, कामधेनु (ये प्रशस्त) और खल विष और वारुणी (ये बुरे) प्रकट हुए। (रा० प्र०)

उनको नीरोग किया। कोई शशिरूप तापहारी और प्रकाशकारी हैं, अपने वचनकिरणसे अमृत बरसाते हैं। जैसे श्रीशुकदेवजी जिन्होंने वचनोंद्वारा भगवद्यशामृत पिलाकर परीक्षित् महाराजको (सर्पभयरूपी) तापसे रहित कर ज्ञानका प्रकाश दिया कि हम देह नहीं हैं, हम अमर हैं। और, कोई कामधेनुरूप हैं, याचक शुभाशुभ जो कुछ भी माँगे वही बिना विचारे देनेवाले हैं। जैसे भृगु-मुनि आदि जिनने सगरकी रानीको साठ हजार पुत्रका वर दिये, यह न सोचे कि रजोगुणी लोग अनीति करेंगे, दूसरे यह न विचारा कि ऐसा वर विधिसृष्टिके विरुद्ध है। (ङ) धेनु-सम कहकर पूज्य भी जनाया।

नोट—३ (क) सन्तोंके उलटे 'खल' हैं जो उपर्युक्त उपमानोंके विरुद्धगुणधर्मविशिष्ट विष और मद्यके समान हैं। जैसे विष मारक और नाशकारक होता है; वैसे ही ये जगत्‌का अहित करनेवाले होते हैं। और जिस प्रकार मद्यमें मोह और मद होता है; वैसे ही इनमें भी घोर अज्ञान और मोहोन्माद होता है। (ख)—(बाबा हरीदासजी कहते हैं कि) खल विष और वारुणीके समान हैं। जैसे राजा वेन विषरूप था; जिसने प्रजाको ईश्वरविमुख कर मारा और शिशुपाल वारुणीरूप है, क्योंकि श्रीरुक्मिणीजीके विवाहमें श्रीकृष्णजीका प्रभाव जान गया था तब भी युधिष्ठिरजीके यज्ञमें उसने अनेक दुर्वचन कहे। (ग) 'सुधा, शशि, विष और वारुणी' पर विशेष दोहा ५ (८) भी देखिये।

बैजनाथजी—'*भवसागर''''संतसुधा''''*' इति। संसारको सागर कहा। सागरमें अगाध जल, तरंगें, जलजन्तु और चौदह रत्न हैं। यहाँ वे क्या हैं? भवसागरमें आशा अगाधता, मनोरथ जल, तृष्णा तरंग, कामादि जलजन्तु और शब्दादि विषयोंका ग्रहण उसमें डूब जाना है। वहाँ चौदह रत्न निकले थे, यहाँ सन्त उत्तम रत्न हैं, जैसे कि उपासक तो अमृत हैं, ज्ञानी चन्द्रमा हैं, कर्मकाण्डी कामधेनु हैं और खल नष्टरत्न हैं (जैसे—विमुख विष हैं, विषयी मदिरा हैं)। इसी तरह धर्मी ऐरावत, चतुर पण्डित उच्चैःश्रवा, सुकवि अप्सरा, दानी कल्पवृक्ष, दयावान् धन्वन्तरि, ध्रुवादि शङ्ख, साकावाले राजा मणि, मत पक्षी, आचार्य धनुष और पतिव्रता लक्ष्मी हैं।

ब्रह्माजीकी वन्दना

विनायकी टीकाकार यहाँ यह शङ्का उठाते हैं कि 'ब्रह्माजीकी स्तुति बहुधा ग्रन्थोंमें नहीं मिलती, यहाँपर गोस्वामीजीने क्यों की?' और उन्होंने उसका समाधान यों किया है कि 'इसका कारण' तुलसीदासजी स्पष्ट करते हैं कि इस सृष्टिके कर्त्ता तो ब्रह्मदेव ही हैं, इसके सिवाय अध्यात्मरामायणमें स्वतः शिवजी ब्रह्मदेवके माहात्म्यका वर्णन करते हैं।'

यह वन्दना ग्रन्थका मङ्गलाचरण नहीं है जिसमें कि ब्रह्माके नमस्कारकी परिपाटी नहीं है। अस्तु! अन्यान्य देवताओंके साथ उनकी वन्दना भी की गयी। यह कविकी शिष्टता और उदारता है। सर्वथा ऐसा नहीं है कि ब्रह्माजीकी स्तुति नहीं ही की जाय। क्योंकि जब और देवताओंकी की जाय तो उनकी क्यों न की जाय? मङ्गलाचरणमें न सही, लेकिन साधारणतः उनकी वन्दना करनेमें क्या हानि? वह तो अच्छा ही है। और पूर्वके कवियोंने भी उनको नमस्कार किया है। उनकी वन्दनाके श्लोक पाये जाते हैं। यथा, 'तं वन्दे पद्मसद्मानमुपवीतच्छटाछलात्। गङ्गास्रोतस्त्रयेणैव यः सदैव निषेव्यते॥ कृतकान्तकेलिकुतुक-श्रीशीतश्वासैकनिद्राणः। घोरितवितितालिरुतोनाभिसरोजे विधिर्जयति॥'(१-२)

ऊपरके श्लोकोंके देखनेसे मालूम होता है कि ये मङ्गलात्मक हैं। अतः, ग्रन्थके आरम्भमें सर्वथा उनका नमस्कार वर्जित है, यह बात निरर्थक हुई। सन्त उन्मनी टीकाकार महात्मा भविष्यपुराण पूर्वार्द्ध अ० १६ का प्रमाण देकर लिखते हैं कि 'सबसे प्रथम ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उन्होंने देवता, दैत्य, मनुष्य, पर्वत, नदी इत्यादि पैदा किये; इसीसे ये सब देवताओंके पिता और जीवोंके पितामह कहलाये। सदा भक्तिपूर्वक इनकी पूजा करनी चाहिये'। इसी सम्मतिसे यह वन्दना की गयी। पुनः, वे लिखते हैं कि

नारद-शाप कर्मकाण्डकी रीतिमें है, न कि योगियोंके ध्यानमें। इनकी स्तुति न सही, पर प्रणाम करना सर्वत्र ही मिलता है।

नोट—४ ब्रह्माजीकी पूजा एवं प्रतिष्ठाके सम्बन्धमें स्कन्दपुराणमें यह प्रमाण मिलता है—'**अयं न जातु पद्मभूश्छलन्मनो दुरात्मवान्॥' अशासि पञ्चवक्त्रता यदोपहासितो ह्यहम्। पुनस्य पुत्रिकारतिर्मयीश शिक्षितोऽभवत्॥ तृतीय एष मातुरप्यहो कथं नु सह्यते। तदस्य तु प्रतिष्ठया क्वचिन्न भूयतां विधेः॥**'(१०—१२) स्क० पु० माहेश्वरखण्ड अरुणाचलमाहात्म्य उत्तरार्द्ध अ० १५।' ब्रह्माजीके झूठ बोलनेपर कि 'हम पता ले आये। हमने शिवजीके मस्तकपर केतकीका पुष्प चढ़ा हुआ देखा', शिवजीको क्रोध आ गया और वे बोले कि यह ब्रह्मा नहीं है, किन्तु मनका छली और दुष्टात्मा है। इसने एक बार पञ्चमुख होनेके कारण मेरा उपहास किया था (कि हम भी पञ्चवक्त्र हैं, क्या शिवजीसे कम हैं?)। फिर इसने एक बार अपनी कन्यापर कुदृष्टि डाली, तब मैंने इसको शिक्षा दी परन्तु अब यह तीसरा अपराध है। यह कैसे सहा जाय? अतः अबसे इसकी कहीं प्रतिष्ठा (अर्थात् मान, प्रतिष्ठा एवं स्थापनाद्वारा पूजन) न हो। और इसीके केदारखण्ड अ० ६ श्लोक ६४ में लगभग इसी तरहका शाप है कि तुम्हारी पूजा अबसे न होगी।

पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २५५ में लिखा है कि तीनों देवताओंमें कौन श्रेष्ठ है। इसकी परीक्षाके लिये जब भृगुजी ब्रह्माजीके पास गये तो उनको दण्डवत् प्रणाम कर भृगुजी हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गये पर ब्रह्माजीने प्रत्युत्थान अथवा प्रिय वाक्यसे उनका आदर न किया, किन्तु रजोगुणवृत्त होनेसे ब्रह्माजी देखी-अनदेखी-सी करके बैठे रहे। इसपर भृगुजीको क्रोध आ गया और उन्होंने शाप दिया कि 'तुमने मेरा इस प्रकार अनादर किया है, इसलिये तुम भी सर्वलोकोंसे अपूज्य हो जाओ।' यथा—'**रजसा महतोद्रिक्तो यस्मान्मामवमन्यसे। तस्मात्त्वं सर्वलोकानामपूज्यत्वं समाप्नुहि॥**'(४८)

तीनों उपर्युक्त उद्धरणोंमें कहीं भी प्रणाम या वन्दनाका निषेध नहीं है; अतएव शङ्का ही निर्मूल है।

दो०—बिबुध बिप्र बुध ग्रह चरन, बंदि कहौं कर जोरि।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल, मंजु मनोरथ मोरि॥१४(छ)॥

अर्थ—देवता, ब्राह्मण, पण्डित, ग्रह सबके चरणोंकी वन्दना करके मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि आप सब प्रसन्न होकर मेरे सुन्दर सब मनोरथोंको पूरा करें॥ १४॥

नोट—१ *'मनोरथ मोरि'*—मनोरथ पुँल्लिङ्ग है इसके साथ 'मोर' पद होना चाहिये था। यहाँ अनुप्रासके विचारसे *'मोर'* की जगह *'मोरि'* कहा। अर्थात् ऊपर आधे दोहेके अन्तमें *'जोरि'* पद है उसीकी जोड़में यहाँ *'मोरि'* ही ठीक बैठा है। अथवा, कवि इसका प्रयोग दोनों लिङ्गोंमें करते हैं। यथा—*'मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥'* (२। २९) *'तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें।'* (२। ३२) रा० प० कार लिखते हैं कि पुँल्लिङ्ग बड़े अर्थको जनाता है और स्त्रीलिङ्ग छोटेको। जैसे 'गगरा' बड़ेके लिये और 'गगरी' छोटेके लिये आता है। वैसे ही यहाँ स्त्रीलिङ्गका पद देकर जनाते हैं कि व्यासादिसे बड़ी चाह थी, अतः वहाँ पुँल्लिङ्ग पद दिया था। यथा—*'पुरवहुँ सकल मनोरथ मोरे।'* (१। १४)

नोट—२ यहाँतक प्रथम चतुर्दशी (अर्थात् प्रथम चौदह दोहों) में चौदहों भुवनोंके रहनेवाले जीवोंकी श्रीसीताराममयरूपसे वन्दना की गयी। (शुकदेवलालजी)

बैजनाथजी—'सागरको देवताओं और दैत्योंने मथा था। भवसागरको मथनेवाले नवग्रह हैं (ये कुण्डली मुहूर्त्तादिद्वारा सबके गुण-अवगुण लोकमें प्रकट कर देते हैं) जिनमें राहु और केतु दैत्य प्रसिद्ध हैं। 'बुध' मध्यम ग्रह चन्द्रमा-सहित, 'विप्र' बृहस्पति, शुक्र और 'विबुध' रबि, मंगल और शनि। अथवा, वेदाभ्यासी विप्र 'विबुध' हैं और जो विशेष वेदाभ्यासी नहीं हैं वे 'बुध' ग्रह दैत्य हैं।' (इस तरह

बैजनाथजीने इस दोहेको पूर्वके साथ सम्बन्धित मानकर मुख्य अर्थ ये ही दिये हैं; परंतु मेरी समझमें यह पृथक् वन्दना है।

पुनि बंदौं सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता॥ १॥
मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥ २॥

अर्थ—अब मैं शारदा और गङ्गाजीकी वन्दना करता हूँ। दोनोंके चरित पवित्र और मनोहर हैं॥ १॥ चरित कहनेमें प्रथम गङ्गाका चरित कहा, यथा—'*मज्जन पान पाप हर।*' पीछे शारदाका यथा—'*कहत सुनत*……'। इससे गङ्गाकी प्रधानता हुई। इस तरह दोनोंकी प्रधानता रखी।

नोट—१ (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'ग्रन्थकारने प्रथम ब्रह्माजीकी, फिर ब्रह्मादि देवोंकी वन्दना की, अब ब्रह्माकी शक्ति शारदा और शिवशक्ति गङ्गाकी वन्दना करते हैं। गङ्गाको भवभामिनी कहा है। यथा—'*देहि रघुबीर-पद-प्रीति निर्भर मातु, दासतुलसी त्रासहरणि भवभामिनी॥*' (विनय० पद १८) (ख) शारदाके पीछे गङ्गाकी और गङ्गाके पीछे शिवजीकी वन्दना करनेसे शारदाकी प्रधानता हुई, परन्तु चरित कहनेमें प्रथम गङ्गाका चरित कहा, यथा—'*मज्जन पान पाप हर।*' पीछे शारदाका यथा—'*कहत सुनत*……'। इससे गङ्गाकी प्रधानता हुई। इस तरह दोनोंकी प्रधानता रखी।

नोट—२ (पं० रामकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि) भणितको पूर्व सुरसरिसम कह आये, यथा—'*सुरसरि सम सब कहँ हित होई।*' (१। १४) इससे यहाँ दोनोंका समान हित दिखानेके लिये दोनोंकी एक साथ वन्दना की। यहाँ 'कर्मविपर्यय अलङ्कार' है। और द्विवेदीजी कहते हैं कि 'उत्तम ग्रन्थके लिये शरीर और वाणी दोनोंकी शुद्धता जरूरी है', अतः दोनोंकी वन्दना की।

शारदा और गङ्गा दोनों भगवान्‌की पूर्व किसी कल्पमें स्त्रियाँ थीं। यथा—'**लक्ष्मीः सरस्वती गङ्गा तिस्रो भार्या हरेरपि।**' (ब्रह्मवै० पु० २। ६। १७) फिर जब सरस्वती ब्रह्माजीकी कन्या हुईं तब गङ्गाजी उनकी सखी हुईं। दोनोंमें बड़ा प्रेम था। इसीसे जब सरस्वती देवहितके लिये नदीरूप हुईं, तब गङ्गा भी नदीरूप हो गयीं। सरस्वती गङ्गाके प्रेमसे पूर्ववाहिनी और गङ्गा उनके प्रेमसे उत्तरवाहिनी हुईं। गङ्गाने तीन धारा रूप हो त्रैलोक्यका हित किया। सरस्वतीने बडवानलको समुद्रमें डालकर देवादिका हित और मर्त्यलोकमें मनुष्योंके पाप हरकर उनका हित किया। इत्यादि दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। (मा० सं०) शारदा और गङ्गा दोनोंमें बहुत कुछ समानता और सजातीयता है, क्योंकि गङ्गाकी तरह सरस्वतीका भी एक द्रवरूप है। (रा० कु०)

नोट—३ कुछ महानुभावोंका मत है कि पहले मङ्गलाचरणमें सरस्वतीजीकी वन्दना कर चुके, अब दुबारा वन्दना है, इसलिये '*पुनि*' पद दिया। पहले सरस्वतीरूपकी वन्दना थी, अब शारदाकी वाणी प्रवाहिणी-रूपसे वन्दना है। और कोई कहते हैं कि भाषाकाव्यमें यह पहली बार वन्दना है, 'श्लोकोंका कथन तो सूक्ष्मरूपसे ससकाण्डोंकी कथाका वर्णन है, इसलिये उसको वन्दनामें नहीं गिनना चाहिये। अतः कोई शङ्का नहीं उठती।

बैजनाथजी—'*पुनीत मनोहर चरिता*' इति। '*चरित*' अर्थात् उनका धाम, नाम, रूप और गुण पवित्र और मनोहर हैं। शारदाके धाम तुरीया, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीके स्थान नाभि, हृदय, कण्ठ, मुख और सभी पवित्र हैं। गङ्गाके धाम हरिपद, ब्रह्मकमण्डल, शिवशीश, पृथ्वीमें अनेक तीर्थ सब पवित्र हैं। शारदा नाममें भगण और सुरसरिमें नगण दोनों पवित्र गण हैं। नाम और रूपका माहात्म्य तो सब पुराणोंमें प्रसिद्ध ही है।

नोट—४ '*कहत सुनत*' से वक्ता और श्रोता दोनोंके अज्ञानका हरना कहा। कहना-सुनना मज्जन है। यथा—'*कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥*' (१।४१) सुनना पान करना है। यथा—'*श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहि अघात मति धीर।*' (७। ५२)

गुर पितु मातु महेस भवानी। प्रनवौं दीनबंधु दिन दानी॥ ३॥

अर्थ— मैं महेश-पार्वतीजीको प्रणाम करता हूँ, जो मेरे गुरु और माता-पिता हैं, दीनबन्धु हैं और नित्य (दीनोंको) दान देनेवाले हैं॥ ३॥

पं० रामकुमारजी—१ (क) ब्रह्माकी वन्दना शिववन्दनासे पहले की, क्योंकि ब्रह्मा पितामह हैं, शिवजी उनकी भृकुटीसे हुए हैं। (ख) *'गुर पितु मातु'* का भाव कि उपदेश करनेको गुरु हैं। यथा—*'सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित, हित उपदेसको महेस मानो गुरुकै।'* (बाहुक) *'मातु पिता'* सम हितकर्त्ता हैं। दीनकी सहायता करनेमें बन्धु हैं, यथा—*'होहिं कुठायँ सुबंधु सुहाए'।* दीनके लिये दानी हैं; अर्थात् पालनकर्त्ता हैं। छंदहेतु दीनको *'दिन'* कहा—**'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दो भङ्गं न कारयेत्'।** सबके गुरु माता-पिता हैं—*'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।'* (१। १११) *'जगत मातु पितु संभु भवानी।'* (१। १०३)

नोट—१ (क) गुरु और माता-पिता कहनेका भाव यह है कि भगवान् शङ्कर जगद्गुरु हैं और उसके (जगत्‌के) माता-पिता भी हैं। कल्पभेदसे जगत्‌की उत्पत्ति भी उनके द्वारा होती है। महर्षि कालिदासने भी कहा है—**'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥'** (रघुवंश) वाल्मीकिजीने भी जगत्‌की सृष्टि और लयका कर्त्ता उनको माना है। यथा—**'जगत्सृष्ट्यन्तकर्त्तारौ।'** (खर्रा) (ख) मूलगोसाईंचरितसे स्पष्ट है कि श्रीभवानीजी उनको दूध पिला जाया करती थीं। प्रकट होनेपर श्रीशिवजीने इनके पालन-पोषणका प्रबन्ध कर दिया। यथा—*'बालकदसा निहारि गौरी माई जगजननि। द्विज तिय रूप सँवारि नितहि पवा जावहि असन॥'* (३) *'……सिव जानि प्रिया व्रत हेतु हियो। जन लौकिक सुलभ उपाय कियो॥'* अतएव वस्तुतः वे ही माता-पिता हैं। सांसारिक माता-पिताने तो उन्हें त्याग ही दिया था। यथा—*'तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु-पिताहूँ।'* (विनय० २७५) परलोकको रक्षा श्रीनरहर्यानन्दजीके द्वारा करने और रामचरितमानस देनेसे 'गुरु' कहा। मं० श्लोक ३ भी देखिये।

नोट—२ (क)*'दीनबंधु'* का भाव कि जो सब ऐश्वर्यहीन हैं, उनके सहायक हैं। यथा—*'सकत न देखि दीन करजोरें।……निरखि निहाल निमिषमहँ कीन्हे॥'* (विनय० ६) *'दीनबंधु'* कहकर शिवजीसे दीन और दीनबन्धुका भी नाता जोड़ा। (ख) *दिनदानी*=प्रतिदिन दान देनेवाले। यथा—*'दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी॥'* (वि० ५) *'दीन-दयालु दिबोई भावै,'* (वि० ४) प्रतिदिन काशीमें मुक्तिदान करते रहते हैं। पुनः, *दिन*=दीन अर्थात् दीनको दान देनेवाले। *'दिनदानी'* से अत्यन्त उदार और अपना (तुलसीदासका) नित्य सार सँभार पालन-पोषणका कर्त्ता जनाया। पाँडेजीका मत है कि गुरु होके *'दीनबन्धु'* हैं, माता-पिता होकर *'दिनदानी'* हैं, अर्थात् पोषण करनेवाले हैं।

सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥ ४॥

शब्दार्थ—**निरुपधि**=निःस्वार्थ, निश्छल। **पी**=पिय, पति। **हित**=भला करनेवाले।

अर्थ—श्रीसीतापति रामचन्द्रजीके सेवक, स्वामि, सखा हैं, सब तरहसे (मुझ) तुलसीदासके सदा निश्छल हितकारी हैं (अर्थात् भक्तोंके अपराधसे भी उनकी हितकारितामें कभी बाधा नहीं पहुँचती)॥ ४॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी *'सब बिधि'* का भाव यह लिखते हैं कि शिवजीका गुरु, पिता, माता, दाता और सीतापतिके सेवक-स्वामी-सखारूपसे हितकारी होना सूचित किया है। पुनः, तुलसीहीके हितकर्त्ता नहीं हैं, सब जगत्‌के हितैषी हैं; पर तुलसीके सब विधिसे हितैषी हैं और जगत्‌के तो एक-ही विधिसे हैं सो आगे कहते हैं। यथा, *'कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा।'*

नोट—२ *'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'* इति। सेवक, स्वामी और सखा होनेके प्रसंग श्रीरामचरितमानसमें बहुत जगह हैं। सेवक हैं। यथा—*'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नाएउ माथ।'* (१। ११६) *'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥'*(१। ११९) *'नाथ बचन*

पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥' (१। ७७) *'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।'* (२। ५१) स्वामी यथा—*'तब मज्जन करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥'* (१। १०३) *लिंग थापि बिधिवत करि पूजा।'* (६। २) और सखा यथा—*'संकरप्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥'* (६। २) *'संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥'* (६। २)

श्रीरामचन्द्रजीने जब सेतुबन्धनके समय शिवलिङ्गकी स्थापना की तब उनका नाम 'रामेश्वर' रखा। इस पदमें सेवक, स्वामी और सखा तीनोंका अभिप्राय आता है। ऐसा नाम रखनेसे भी तीनों भाव दर्शित होते हैं। इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका है जो *'रामस्तत्पुरुषं वक्ति बहुव्रीहिं महेश्वरः। ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ब्रह्माद्याः कर्मधारयम्॥'* इस श्लोकको लेकर कही जाती है।

जिस समय सेतुबन्ध हुआ था उस समय ब्रह्मा, शिव आदि देवता और बड़े-बड़े ऋषि उपस्थित थे। स्थापना होनेपर नामकरण होनेके पश्चात् परस्पर 'रामेश्वर' शब्दके अर्थपर विचार होने लगा। सबसे पहले श्रीरामचन्द्रजीने इसका अर्थ कहा कि इसमें तत्पुरुष समास है। अर्थात् इसका अर्थ **'रामस्य ईश्वरः'** है। उसपर शिवजी बोले कि भगवन्! यह बहुव्रीहि समास है। अर्थात् इसका अर्थ **'रामः ईश्वरो यस्यासौ रामेश्वरः'** इस भाँति है। तब ब्रह्मादिक देवता हाथ जोड़कर बोले कि 'महाराज! इसमें कर्मधारय समास' है। अर्थात् **'रामश्चासौ ईश्वरश्च'** वा **'यो रामः स ईश्वरः'** जो राम वही ईश्वर ऐसा अर्थ है। इस आख्यायिकासे तीनों भाव स्पष्ट हैं। बहुव्रीहि समाससे शिवजीका सेवकभाव स्पष्ट है। तत्पुरुषसे स्वामीभाव और कर्मधारयसे सख्यभाव पाया जाता है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'शिवजी सदा सेवक रहते हैं; इसलिये 'सेवक' पद प्रथम दिया है।' पुनः, काष्ठजिह्वास्वामीजीका मत है कि 'भक्तिपक्षमें स्वामीसे सब नाते बन सकते हैं। इसीसे शिवजीको *'सेवक स्वामि सखा'* कहा। अथवा, हनुमान्‌रूपसे सेवक हैं, रामेश्वररूपसे स्वामी और सुग्रीवरूपसे सखा हैं। राजाओंमें 'त्रिलोचनका अंश रहता है जिससे कोई राजाओंकी ओर ताक नहीं सकता।'(रा० प०)

☞ प्रायः सभी टीकाकारोंने यही भाव दिये हैं। केवल पंजाबीजीने इनसे पृथक् यह भाव लिखा है कि शङ्करजी श्रीरघुनाथजी परात्पर भगवान्‌के सदा सेवक हैं, विष्णुके स्वामी हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों समान हैं, इससे सखा भी हैं।

☞ इस ग्रन्थमें विष्णुभगवान्, क्षीरशायी विष्णु (श्रीमन्नारायण) और परात्पर ब्रह्म राम इन तीनके अवतार वर्णन किये गये हैं। प्रथम दो इस ब्रह्माण्डके भीतर एकपादविभूतिमें ही रहते हैं, जहाँ ऋषियों-मुनियों आदिका जाना और लौटना पाया जाता है। परात्पर ब्रह्म एकपादविभूतिसे परे हैं। यहाँ *'सेवक स्वामि सखा'* जिस क्रमसे कहा है उसी क्रमसे इनके उदाहरण ग्रन्थमें आये हैं। *'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।'''''सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥'* (१। ५१) यह अवतार ब्रह्मका है। यथा—*'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिसतारी॥ जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥ जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा।'* (१। १४१) इनका अवतार शापवश नहीं होता, ये अपनी इच्छासे भक्तोंके प्रेमके वशीभूत हो अवतार लेते हैं। इन्हींके विषयमें कहा है—*'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि शिव नाएउ माथ।'* शिवजी इन श्रीरामजीके सदा सेवक हैं। और भी प्रमाण ये हैं—*'नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥ प्रगटे राम कृतग्य कृपाला।'* (१। ७६) इन्हींको शङ्करजीने कहा है—*'नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥ तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अग्या सिरपर नाथ तुम्हारी॥'* (१। ७७)

विष्णुके स्वामी हैं, इसका प्रमाण उपर्युक्त उद्धरणोंके पश्चात् इसी ग्रन्थमें आता है। यथा, *'सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ शिव कृपानिकेता॥ पृथक पृथक तिन्ह कीन्ह प्रसंसा। भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा॥ बोले कृपासिंधु बृषकेतू। कहहु अमर आए केहि हेतू॥'* (१। ८८) इसमें स्वामी-भाव स्पष्ट झलकता है। इन विष्णुके अवतार 'राम' का स्वामी कहा गया।

नारदजीने जिनको शाप दिया उनके सखा हैं। यह *'जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा॥ कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें॥'* (१। १३८) ये क्षीरशायी विष्णु हैं, इन्हींके पास नारदजी गये थे, इन्हींने नारदके हृदयमें गर्वका अंकुर देख उसके नष्ट करनेका उपाय रचा था और इन्हींके शापवश अवतार लिया था। यहाँ अवतार भी सखा शङ्करके गणोंके उद्धारके निमित्त था। यथा—*'क्षीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा॥'* (१। १२८) *'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहौं उखारी।'* (१। १२९) *'भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ। धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ॥'* (१। १३९) इस कल्पके अवतार श्रीरामजीके सखा हैं।

उपर्युक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि वे ब्रह्म रामके सदा सेवक ही हैं सखा या स्वामी कभी नहीं। नर-नाट्यमें प्रभु अपने शील-स्वभावसे यदि कभी स्वामी, सखा, भाई कहते भी हैं, तो भी वे यह प्रतिष्ठा देते ही डर जाते हैं, अपनी भक्तिमें सदा सावधान रहते हैं। यथा—*'राम! रावरो सुभाउ, गुन सील महिमा प्रभाउ, जान्यो हर, हनुमान, लखन, भरत। जिन्हके हिये-सुथरु राम-प्रेम-सुरतरु, लसत सरल सुख फूलत फरत॥ आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ भाइ, पति, ते सनेह-सावधान रहत डरत। साहिब-सेवक-रीति, प्रीति-परिमिति, नीति, नेमको निबाह एक टेक न टरत॥'* (विनय० २५१)

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्र-जाल जिन्ह सिरिजा॥ ५॥

अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू॥ ६॥

शब्दार्थ—जाल=समूह। **सिरिजा**=रचा। **अनमिल**=(अन=नहीं+मिल=मिलना) बेमेल। अर्थात् जिसमें अक्षरोंकी मैत्री नहीं मिलती। **प्रभाउ**=प्रभाव, असर। **प्रताप**=प्रभाव, महत्त्व, तेज।

अर्थ—कलियुगको देखकर संसारके हितके लिये जिन शिवपार्वतीजीने शाबरमन्त्रसमूह रच दिये॥ ५॥ जिनमें अक्षर बेजोड़ (पड़े) हैं, जिनका न तो कोई ठीक अर्थ ही है और न जप ही अथवा जिनका कोई अर्थ नहीं जप ही प्रधान है। शिवजीके प्रतापसे उनका प्रभाव प्रकट है॥ ६॥

नोट—१ *'कलि बिलोकि'*……' इति। (क) कलि अर्थात् कलियुगका प्रभाव देखकर कि पुरश्चरण पूजा-विधि किसीसे न बनेगी, कलिके प्रभावसे योग, यज्ञ, जप, तप, ज्ञान, वैराग्य सब नष्ट हुए जा रहे हैं। कर्म-धर्म कुछ भी नहीं रह जायगा। यथा—*'कलि न बिराग, जोग, जाग, तप, त्याग रे॥'* (विनय० ६७), *'ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे॥'* (विनय० ६६) *'नहि कलि करम न भगति बिबेकू। रामनाम अवलंबन एकू॥'* (१। २७) *'एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप ब्रत पूजा॥'* (७। १३०) (ख) शाबर मन्त्र सत्ययुग, द्वापर, त्रेतामें नहीं था, कलिके प्रारम्भमें हुआ है। कलिमें जीवोंको अनेक प्रकारके क्लेश होते हैं। उनके निवृत्त्यर्थ शाबरमन्त्र बनाये गये। दूसरी चौपाईमें शाबरमन्त्रका रूपक कहा है। (पं० रा० कु०) (ग) मयङ्ककार लिखते हैं कि*'सर्पादिक विष हरण कलि, साँबर रचे तुरन्त। सो उमेश कलि अघ दहन मानस यश विरचन्त॥'* जिसका भाव यह है कि जब वैदिक, तान्त्रिक मन्त्र कील दिये गये तब शिवजीने शाबरमन्त्र जीवोंके उपकारार्थ रचा था। अपर मन्त्रोंके कीलित हो जानेसे शाबरमन्त्र ही फलदायक रह गये। सर्पादिके विष उतारने और नाश करनेवाले शाबरमन्त्रोंको जिन्होंने रचा उन्हींने इस मानसका निर्माण किया। (घ) कलियुगमें जीवोंके दुःख निवारण करनेके लिये शिवपार्वतीजी भीलरूपसे प्रकट हुए। शिवजीने भील भाषामें शाबरमन्त्र समूह-का-समूह रच दिया जो पार्वतीजीकी आज्ञासे गणेशजी

लिखते गये। यह ग्रन्थ 'सिद्धशाबरमन्त्र' कहलाता है। 'सबर' भीलको कहते हैं। भीलभाषामें भीलरूपसे प्रकट हुआ, इसीसे ऐसा नाम पड़ा। वास्तवमें यहाँ गोस्वामीजी भगवान् शंकरकी अपने ऊपर कृपालुता और अनुकूलता दिखाते हैं। इसीलिये उन्होंने उनकी सहज दयावृत्तिघटित चरित (शाबरमन्त्रजाल सृष्टि) का उल्लेख किया है। जैसे भगवान् शंकरकी कृपाविभूतिसे शाबरमन्त्र सिद्ध है। वैसे ही श्रीरामचरितमानस भी उन्हींका प्रसादस्वरूप होनेसे वैसा ही प्रभाव रखता है।

नोट—२ *'अनमिल आखर अरथ न जापू।'* इति। इसका अन्वय कई प्रकारसे किया जाता है।

(क) आखर अर्थ अनमिल (हैं), *'न जापू'।* अर्थात् अक्षर जो कह रहा है, वह अर्थ नहीं है। इससे पाया गया कि शाबरमन्त्र अर्थरहित नहीं हैं, परन्तु अर्थ अक्षरोंसे मिलान नहीं खाता। (पं० रा० कु०) *'न जापू'* का भाव यह है कि अन्य मन्त्रोंमें जापकी विधि होती है। कोई एक लक्ष, कोई एक सहस्र, कोई एक शत और कोई इक्कीस इत्यादि बार जपे जाते हैं तब फल देते हैं। शाबरमन्त्रमें जापका विधान कोई नहीं है। एक ही बारके जपसे कार्य सिद्ध हो जाता है। (मा० प्र०) परन्तु तान्त्रिक कहते हैं कि कुछ साधारण-सा विधान और जप करना होता है, विशेष जाप और विशेष विधान नहीं है।

(ख) *'अनमिल' 'आखर', अर्थ न, जापू प्रगट प्रभाउ……'* (रा० प०) अर्थात् अक्षर बेमेल हैं (अर्थात् तुक नहीं मिलता), अर्थका सम्बन्ध नहीं बैठता, केवल जपनेसे फल प्राप्त हो जाता है, इसका प्रभाव प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।

(ग) 'आखर अनमिल, न अर्थ (है) न जाप' अर्थात् अक्षर बेजोड़ हैं, न तो अर्थ ही लगता है और न कोई जपका ही विशेष विधान है। अक्षर अनमिल हैं अर्थात् सन्धि, विभक्ति, समास आदिका कोई नियम नहीं है। वर्णमैत्री, शब्दोंकी गम्भीरता, तुकान्तादि कोई भाषाओंके नियम नहीं हैं। पदोंके विचारनेसे कोई ठीक अर्थ भी नहीं निकलता और पुरश्चरणादि कुछ जाप करनेको नहीं। (वै० पां०)

नोट—३ *'प्रगट प्रभाउ……'* इति। भाव यह कि मन्त्रमें अक्षर यदि गड़बड़ हों या उसका अर्थ कुछ न हो अथवा उसका पुरश्चरण विधानपूर्वक न हो अथवा उसका जप नियमानुसार न हो, इन चारोंमेंसे यदि कोई भी एक बात ठीक न हुई तो मन्त्र फलप्रद नहीं होता। परन्तु शाबरमन्त्रमें ये चारों बातें न होती हुई भी यह मन्त्र श्रीमहेशजीके प्रतापसे फलप्रद होते ही हैं। प्रभाव प्रकट है। अर्थात् तत्क्षण फुरता है। यह न तो अक्षरका ही प्रभाव है न अर्थहीका केवल महेशके प्रतापका प्रभाव है।

नोट—४ कुछ शाबरमन्त्र ये हैं—(क) 'बद खकारी गलसुआ तथेला रोगोंको झाड़नेका—*'गौरा जाई अञ्जनी सुत जाये हनुमंत। बद खकारी गलसुआ तथैला ये चारों भसमन्त॥ कालीकंकाली कहाँ चली कैलाश पर्वतको चली कैलाश पर्वत पै जाय कै कहा करैगी, निहानी बसूली गढ़ावैगी निहानी बसूली गढ़ाकर कहा करैगी। बद कौं कखारी कौं गलसूए कौं तथेले कौं तीनोंको काटैगी कपटैगी करैगी बिचार देखूँ तेरी शक्ति गुरुकी भक्ति फुरो मन्त्र ईश्वर उवाच॥'* (१-२) (भट्टजीकी टीकासे) (ख) दृष्टिनिवारणमन्त्र। यथा—*'ओं नमो नषकटा विकटा मेंद मजा वद फोड़ा फुनसी आदीठ दुंमल दुखनोरत्यावरी घन वाय चौंसठि योगनी बावन वीर छप्पन भैरव रक्षा करै जो आइ।'* (ग) दन्तपीड़ाका मन्त्र। यथा—*'ॐ नमो आदेश गुरुको बनमें ब्याई अञ्जनी जिन जाया हनुमंत, फूनी फुन्सी गूमनी ये तीनों भस्मंत।'* (घ) अँगुली पकनेपर बलायका मन्त्र। यथा—*'धोबीकी गंदहिया कल्यानकुमारी दोहाई लोना चमारी की'।* (ङ) बरैं काटनेका मन्त्र। यथा—*'अरे ततैया तैं मोर भैया विषकी घुंडी खोल विषकी घुंडी न खुलै तो डारो टंगन तोरि दुहाई लोना चमारी की।'* (वै०)

सो उमेस मोहि पर अनुकूला। करिहिं कथा मुद मंगल मूला॥ ७॥
सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित चाऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—अनुकूल=प्रसन्न। **शिवा**=पार्वतीजी। **पसाऊ**=प्रसाद, प्रसन्नता। **चाऊ** (चाव)=उत्साह, आह्लाद। यथा—*'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥'* (७। ६४)

अर्थ—वे उमापति मुझपर प्रसन्न हैं (अत: वे) भाषाकाव्यकी कथाको—मुद मङ्गल-मूलक (उत्पन्न करनेवाला) करेंगे॥ ७॥ श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजी (दोनों) को स्मरण करके और उनकी प्रसन्नता पाकर चित्तोत्साहपूर्वक श्रीरामचरित वर्णन करता हूँ॥ ८॥

पाठान्तरपर विचार (१)—सं० १६६१की प्रतिमें *'सो उमेस'* पाठ है। किसीने *'मे'* का *'महे'* बनानेकी चेष्टा की है। १७०४ में भी शं० ना० चौबेजी यही पाठ बताते हैं; परन्तु रा० प्र० में *'सोउ महेस'* पाठ छपा है। पण्डित शिवलाल पाठकजीका भी *'सो उमेस'* पाठ है और कोदोरामजीका भी। *'सोउ महेस'* पाठ वन्दनपाठकजी और पं० रा० व० श० जीकी छपी पुस्तकोंका है। *'होउ महेस'* पाठ १७२१, १७६२, भा० दा० में हैं। लाला भगवानदीनजीका मत है कि *'होउ महेस'* पाठ उत्तम है, क्योंकि प्रयास करनेपर वरदान माँगना ही उचित है और अपना अभीष्ट भी कह देना चाहिये। यही बात इस पाठमें है, पूर्वके **'जिन्ह'** से **'सोउ'** स्वयं ही लक्षित हो जाता है, क्रियाका स्पष्ट कर देना अधिक अच्छा है। काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि जिन श्रीमहेशजीका प्रताप शाबरमन्त्रमें प्रकट देखा जाता है वे मुझपर अनुकूल हैं, अत: जैसे *'अनमिल आखर अरथ न जापू'* वाले शाबरमन्त्रोंमें उनके प्रतापका प्रभाव है, वैसे ही मेरी यह 'भदेस भाषा भणित' भी *'आखर अरथ अलंकृत नाना'* आदिसे रहित होते हुए भी उनके प्रतापसे मुदमङ्गलदाता होगी। वही बात इस प्रसङ्गके अन्तमें के *'सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जौं हरगौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥'* (१५) इन शब्दोंसे भी पुष्ट होती है। उन्हें पूर्ण विश्वास है, वे शिवजीकी आज्ञासे ही भाषामें कथा कह रहे हैं। यथा—*'प्रगटे सिव संग भवानि लिये। मुनि आठहु अंग प्रनाम किये॥ सिव भाषेउ भाषामें काव्य रचो। सुरबानिके पीछे न तात पचो॥ सब कर हित होइ सोई करिये।""मम पुन्य प्रसाद सों काव्य कला। होइ हैं सम साम रिचां सफला।'* (मूलगुसाईंचरित) अतएव वे प्रसन्न होवें यह प्रार्थना नहीं है, क्योंकि उनकी प्रसन्नता है ही, यह विश्वास है। इस तरह *'सो उमेस'* पाठ यथार्थ ही है और प्राचीनतम है।

(२) *'करिहिं कथा'* इति। १७२१, १७६२ में *'करहु'* पाठ है। छ०, भा० दा०, को० रा० में *'करउँ'* है। १७०४ में *'करिहि'* और १६६१ एवं पं० शिवलाल पाठकजीकी पोथियोंमें *'करिहिं'* पाठ है।

लाला भगवानदीनजी *'करउँ'* को उत्तम मानते हैं। वे कहते हैं कि कविका आशय है कि आप प्रसन्न हों तो मैं करूँ। आज्ञा चाहते हैं। इतना कहकर उनको अनुभव होता है कि उनकी कृपा और प्रसन्नता हुई तब कहते हैं कि *'बरनउँ·····'। 'करिहिं'* अर्थात् वे इस कथाको मुदमङ्गलमूलक बनावेंगे वा बनावें। इस पाठ और अर्थमें यह सन्देह होता है कि कथा तो *'मुद मंगलमूल'* है ही, किसीके करनेसे वह *'मुद मंगलमूल'* थोड़े ही होगी; जैसा कह आये हैं—*'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। गति कूर कबिता सरित की····· ॥'* (१। १०) सम्भवत: इसी सन्देहसे प्राचीनतम पाठ आगे लोगोंने नहीं रखा। श्रीजानकीशरणजीका मत है कि *'करिहिं'* पाठ उत्तम है। विचार करनेपर सन्देह नहीं होता, क्योंकि आगे कवि स्वयं कहते हैं कि *'भनिति मोरि सिश कृपा बिभाती'* एवं *'सपनेहु साँचेहु मोहि पर जौं हरगोरि पसाउ·····'।* इस प्रसङ्गभरमें कवि शिव-कृपाका ही प्रभाव अपने काव्यमें कह रहे हैं। उनका आशय यही है कि कथा तो मुदमङ्गलमूल है ही, परन्तु भदेस भाषामें होनेके कारण उसका श्रुतिकी ऋचाओंके समान अथवा संस्कृत भाषाकी रामायणके सदृश प्रभाव होगा या नहीं यह जीमें डर था, वह भी जाता रहा, यह सूचित करते हुए कहते हैं कि *'करिहिं कथा·····'।* अर्थात् मुझे विश्वास है कि इस भाषाकाव्यका वैसा ही आदर होगा। यहाँ *'कथा'* से *'भाषा भणित'* की कथा अभिप्रेत है।

नोट—१ *'करिहिं कथा मुद मंगल मूला'* इति। भाव यह है कि जैसे *'अनमिल आखर·····'* वाले शाबरमन्त्र सिद्ध हैं, वैसे ही भाषाका रामचरितमानस भी उनकी कृपासे सिद्ध हो गया है। यह भी जनाया कि इसके प्रयोगोंका सम्पुट देकर केवल पाठ करनेसे मनोरथकी सिद्धि होती है। पुन: भाव कि शाबरमन्त्रोंमें तो

'अनमिल आखर अरथ न जापू' है और मेरे इस भाषाकाव्यमें कम-से-कम अक्षर और अर्थ 'अनमिल नहीं हैं, वर्णमैत्री' आदि भी है। अतः जब शाबरमन्त्रोंमें उन्होंने इतना प्रभाव दे दिया तब इस भाषा-भणितको तो अवश्य ही मुदमङ्गलोत्पादक करेंगे ही, इसमें सन्देह नहीं। (वै०, रा० प्र०)

नोट—२ *'सुमिरि सिवासिव······'* इति। (क) कथाको मुदमङ्गलमूल करनेमें *'उमेस'* (उमाके 'ईश') नाम दिया, क्योंकि उमाके कहनेसे शिवजीने शाबरमन्त्र रचा। जैसा *'कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा'* से ध्वनित है और उमाके ही कहनेसे शिवजीने गोस्वामीजीपर बालपनेसे ही कृपा की थी। जगहितके लिये कथाको मुदमङ्गलमूल कर देंगे। जगहितके सम्बन्धसे उमाका सम्बन्ध दिया। यहाँ 'शिवा और शिव' नाम दिया। दोनों कल्याणरूप हैं; कल्याण करें इसलिये स्मरण किया। (ख) *'पाइ पसाऊ'* इति। स्मरण करते ही दोनोंकी प्रसन्नताका साक्षात् अनुभव हृदयमें हुआ। विश्वास तो था, अब अनुभव भी कर रहे हैं। अतः चित्तमें उत्साह हुआ। पं० रामकुमारजीका मत है कि गोस्वामीजीने अनुकूल होनेकी प्रार्थना की। श्रीमहादेवजी अनुकूल हुए। तब कहते हैं कि शिवाशिवका प्रसाद पाकर वर्णन करता हूँ। प्रसाद पानेसे चित्तमें चाव हुआ, अर्थात् रामचरित वर्णन करनेके लिये चित्तमें हर्ष हुआ। (ग) पूर्व मन कादर हो रहा था, वह श्रीशिवाशिवकृपासे उत्साहित हुआ।

भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती। ससि समाज मिलि मनहु सुराती॥ ९॥

शब्दार्थ—बिभाती=विशेष शोभित है। ससि=शशि=चन्द्रमा। सुराती=सुन्दर रात; शुक्लपक्षकी रात। यथा—*'तुलसी बिलसत नखत निसि सरद सुधाकर साथ।'* (दो० १९०)

अर्थ—मेरी वाणी श्रीशिवजीकी कृपासे (ऐसी) सुशोभित है, मानो शशिसमाज (अर्थात् तारागणोंसे युक्त चन्द्रमा) से मिलकर (उनके साथसे) सुन्दर रात्रि सुशोभित हो॥ ९॥

नोट—१ *'ससिसमाज मिलि मनहुँ सुराती'* इति। (क) शशिसमाजसे सूचित किया कि जैसे रात चन्द्रमा, रोहिणी, बुध और सम्पूर्ण तारागणके उदयसे शोभित होती है, वैसे ही मेरी कविता श्रीशिव-पार्वतीजीकी कृपाको पाकर शोभाको प्राप्त होगी। भाषा कविताको रात्रिकी उपमा दी; क्योंकि रात अन्धकार आदि दोषोंसे भरी है; वैसे ही मेरी कविता दोषोंसे भरी है। यहाँ *'सिव कृपा'* और *'ससि समाज'* तथा *'भणिति'* और *'रात्रि'* परस्पर उपमेय-उपमान हैं। कविताकी शोभाका कथन उत्प्रेक्षाका विषय है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। (ख) पं० रामकुमारजी *'ससि समाज मिलि'* का भाव यह कहते हैं कि 'शिवकृपा चन्द्रमा है, पार्वतीकी कृपा रोहिणी, गणेशकी कृपा बुध, सम्पूर्ण गणोंकी कृपा तारागण हैं। इन सबोंकी कृपा मिलाकर *'ससि समाज'* हुई। और बैजनाथजीका मत है कि शिवकृपा शशि है, अन्य देवगण नक्षत्र हैं, संवादरूपी चाँदनी फैली हुई है। (ग) यहाँ शरच्चन्द्र और शरद्-रात्रि अभिप्रेत हैं। पूर्णचन्द्र और तारागणका योग होनेसे रात्रिको *'सुराती'* कहा। रात्रिमें प्रकाश नहीं है वह तो अन्धकारमय है, शशिसमाजका सङ्ग पाकर ही वह प्रकाशित होती है। इसी तरह मेरी कवितामें कुछ प्रकाश नहीं है, शिवकृपासे प्रकाशित होगी।

गोस्वामीजीने जो शाबरमन्त्रका रूपक बाँधा है वह १५वें दोहेतक चला गया है। जैसे शाबरमन्त्रमें शिवजीके प्रतापका प्रभाव है, वैसे ही आप सूचित करते हैं कि मेरी कवितामें शिवकृपाका प्रभाव है। शिवाशिवका प्रसाद पाकर वर्णन करता हूँ। आपके इस कथनका कि शिवकृपासे मेरी कविता शोभा पावेगी, यह तात्पर्य है कि 'कथन-शक्ति' और कविताकी शोभा दोनों शिवजीहीकी कृपासे हैं।

जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ १०॥
होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥ ११॥

अर्थ—जो इस कथाको प्रेमसहित सावधानतापूर्वक समझकर कहे-सुनेंगे, वे श्रीरामचन्द्रजीके चरणानुरागी हो जावेंगे। कलिके पापोंसे रहित और सुन्दर मङ्गल-कल्याणके भागी (अधिकारी) होंगे॥ १०-११॥

नोट—१ *'समुझि सचेता'* इति। *'समुझि'* का अर्थ प्रायः सब टीकाकारोंने भविष्यत्कालिक 'समझेंगे' किया है। परन्तु *'समुझि'* का वास्तविक अर्थ 'समझकर' है। उसी तरह जैसे, *'कहि'* का कहकर, *'सहि'* का सहकर, और *'देइ लेइ'* का दे-लेकर है। अस्तु, उपर्युक्त चौपाईका अर्थ हुआ, जो सावधानतापूर्वक समझकर (अर्थात् विचारकर) इसे कहें और सुनेंगे वे कल्याणफल (ऐहिक-पारलौकिक सुखसौभाग्य) के भागी होंगे। *'सचेता'* का अर्थ 'चेतना और सावधानतासहित', 'सचेत होकर' है। दूसरा अर्थ *'सचेत'* का अच्छे चित्तवाले भी होता है। परन्तु उपर्युक्त अर्थ ही साधारणतः ग्राह्य है। किसी-किसी टीकाकारने उसका अर्थ भी भविष्यत्कालिक 'सचेत होंगे' किया है, परं च यह वास्तविक और स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। शुद्ध अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया है।

नोट—२ (क) *'जे'* पद देकर सूचित करते हैं कि इस कथाके कहने-सुननेका अधिकार सबको है, चाहे कोई किसी भी वर्ण और आश्रमका हो। (ख) *'कहिहहिं सुनिहहिं'* के दोनों अर्थ होते हैं—'कहेंगे और सुनेंगे' अर्थात् कहेंगे भी और सुनेंगे भी; दोनों साधन करेंगे। और दूसरा अर्थ है 'कहेंगे और सुनेंगे' अर्थात् दोनोंमें कोई भी कार्य करेंगे। यही अर्थ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। (ग) **सनेह समेता**=प्रेमसहित। कहने-सुननेकी इच्छा बढ़ती ही जाय, प्रेमकी यह भी एक पहचान है। **सचेता**=चित्त लगाकर; सावधानीसे।

नोट—३ *'होइहहिं रामचरन''''''* इति। श्रीमद्गोस्वामीजी यहाँ इस ग्रन्थके वक्ता, श्रोता और मनन करने-वालोंको आशीर्वाद देते हैं। कहने, सुनने, समझनेके तीन फल कहे हैं। जो फल यहाँ कहे हैं वही और भी अनेक ठौरपर गोस्वामीजीने स्वयं कहे या और वक्ताओंके मुखसे कहलाये हैं। यथा—*'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम-धाम सिधावहीं॥'* (७। १३०) *'रामचरनरति जो चहै अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करौ श्रवन पुट पान'॥* (उ० १२८) *'सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान', 'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥'* (७। १५) ये फल क्रमशः प्राप्त होते हैं; इसीलिये क्रमसे तीन फल कहे हैं। रामचरणमें अनुराग होनेसे कलिमल नाश होता है। यथा—*'राम-चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै॥'* (विनय०) कलिमलके नाश होनेपर मुक्ति होती है। यथा—*'मुक्ति जनम महि जानि ग्यान खानि अघहानिकर'* (कि० मं०), अर्थात् ज्ञान होनेपर पाप दूर होते हैं, उससे फिर मुक्ति होती है।

जैसे यहाँ वक्ता-श्रोता आदिको आशीर्वाद दिया गया है, वैसे ही मानस-प्रकरणमें रामचरितसे विमुख रहनेवालोंको शाप दिया गया है। यथा—*'जिन्ह एहि बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए॥ तृषित निरखि रबिकर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥'* (१। ४३)

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि जीव तीन प्रकारके हैं। मुक्त, मुमुक्षु और विषयी। तीन फल कहकर सूचित करते हैं कि कथाका फल इन तीनोंको प्राप्त है। यथा—*'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥'* (७। १५) विमुक्त रामानुरागी होते हैं, विरक्त सुमङ्गलभागी और विषयी कलिमलरहित होते हैं। दूसरा भाव इसका वे यह लिखते हैं कि इनसे यह जनाया है कि कर्म, ज्ञान, उपासना तीनों काण्डके फलकी प्राप्ति कथाके श्रवण, कथन और मननसे हो सकती है। *'कलिमल रहित'* होना कर्मका फल है। यथा—'**नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयी**' (श्रुतिः) *'मन क्रम बचन जनित अघ जाई।' 'सुमंगल भागी'* से ज्ञानकाण्ड सूचित किया, क्योंकि सुमङ्गल और मोक्ष पर्यायवाची शब्द हैं, यथा—*'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भवपासा॥'* यह ज्ञानका फल है। *'रामचरन अनुरागी'* से उपासनाकाण्ड दिखाया, यथा—*'प्रनत कलपतरु करुनापुंजा। उपजइ प्रीति रामपद कंजा॥'* यह उपासनाका फल है।

दो०—सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउं सब भाषा भनिति प्रभाउ॥ १५॥

अर्थ—जो मुझपर श्रीशिव-पार्वतीजीकी स्वप्नमें भी सचमुच प्रसन्नता है, तो भाषाकविताका प्रभाव जो मैंने कहा है वह सब सच हो॥ १५॥

नोट—१ सपनेहुँ=स्वप्नमें भी। यह एक मुहावरा है। इसका भाव 'किसी प्रकार भी,' 'किसी दशामें भी,' होता है। इस तरह कवि कहते हैं कि स्वप्नमें भी अर्थात् किसी प्रकार भी हर-गौरीकी अनुकूलता यदि सचमुच प्राप्त है। पुनः, *'सपनेहुँ साँचेहु'* का भाव कि प्रथम स्वप्नमें आपकी प्रसन्नता प्रकट हुई; फिर प्रत्यक्ष जाग्रत्-अवस्थामें भी हुई। यथा—*'अठवें दिन संभु दिये सपना। निज बोलीमें काव्य करो अपना॥ उचटी निदिया उठि बैठु मुनी। उर गूँजि रह्यो सपनेकी धुनी॥ प्रगटे सिव संग भवानि लिये......'* इत्यादि (मूल-गुसाईंचरित)। मं० श्लो० ७ और पिछली अर्धाली ७-८ में विशेष लिखा जा चुका है। शङ्करजीने प्रकट होकर कहा है कि यह भाषाकाव्य हमारे पुण्य-प्रसादसे सामवेदकी ऋचाओंके समान फलप्रद होगा। इस तरह यह पद घटनामूलक है। जो आशीर्वाद उमा-शिवने स्वप्नमें और प्रकट होकर दिया था, उसीका उल्लेख कविने यहाँ किया है।

टिप्पणी—१(क) प्रथम शिव-पार्वतीजीका प्रसाद पा चुके हैं, यथा—*'सुमिरि सिवासिव पाइ पसाऊ',* अब उसी प्रसादको 'सँभारते' हैं अर्थात् पुष्ट करते हैं कि जो मुझपर दोनोंकी प्रसन्नता हो, तो जो हमने इस भाषाकाव्यका प्रभाव कहा है कि *'होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥'* वह सब सत्य हो। (ख) शाबरमन्त्रमें 'फुर' शब्द रहता है इसीसे आपने भी 'फुर' ही पद दिया; क्योंकि अपनी कविताको शाबरमन्त्रके अनमिल अक्षर आदिकी उपमा दे चुके हैं। उसी बातको यहाँ भी निबाहा है। जैसे शाबरमन्त्रमें प्रभाव है। यथा—*'प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू',* वैसे ही यहाँ भाषा-भणितिमें प्रभाव है। यथा—*'जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ।'* (पं० रा० कु०)

यहाँ समष्टि वन्दना बाहरकी चिदचिद् विभूति समाप्त हुई।

श्रीअवध-सरयू-पुरवासि-परिकररूपवन्दना-प्रकरण

बंदौं अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि॥ १॥

शब्दार्थ—कलुष=पाप, मैल, दोष। नसावनि=नाश करनेवाली।

अर्थ—१ मैं अति पवित्र और कलियुगके पापोंको नाश करनेवाली श्रीअयोध्यापुरी और श्रीसरयू नदीको प्रणाम करता हूँ॥ १॥

अर्थ—२ मैं बड़ी पवित्र अयोध्यापुरीकी, जहाँ कलिके पापोंका नाश करनेवाली सरयू नदी है, वन्दना करता हूँ।

टिप्पणी—१ (क) श्रीशिवकृपासे श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, इसलिये शिव-वन्दना करके तब राम-परिकरकी वन्दना की। अथवा, रामपरिकरमें शिव आदि हैं, इसलिये पहले शिवकी फिर अन्य परिकरोंकी वन्दना की। अवधपुरीकी वन्दना करके अवधवासियोंकी वन्दना करते हैं। (ख) अवधपुरी अति पावनी है, इसलिये *'कलिकलुष नसावनि'* कहा। यथा—*'देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा॥'* (७। २९) और सरयूजी *'कलिकलुष नसावनि'* हैं, अतः वे भी अति पावनी हैं। यथा—*'जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरयू पावनि॥'* (७।४) तात्पर्य यह है कि दोनों *'अति पावनि'* और 'कलि कलुष नशावनि हैं। दोनोंकी एक ही चौपाईमें वन्दना की है, पृथक्-पृथक् वन्दना भी नहीं है। क्योंकि सरयूजी श्रीअयोध्याजीका अङ्ग हैं। पुनः *'अवधपुरी'* कहकर थलकी और *'सरयूसरि'* कहकर जलकी अर्थात् जल-थल दोनोंकी वन्दना की।

नोट—१ (क) महर्षि वाल्मीकिजीने श्रीअयोध्या-सरयूका वर्णन बालकाण्डमें एक ही श्लोकमें किया है, वैसे ही गोस्वामीजीने एक ही अर्धालीमें दोनोंको कहा है। यथा—'**कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम्॥ ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः। तस्मात्सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते॥ सरः प्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता।**' (१। २४। ८—१०) अर्थात् विश्वामित्रजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि यह नदी ब्रह्माके मनसे रचे हुए मानस-सरसे निकली है। सरसे निकलनेके कारण सरयू नाम हुआ। (ख) श्रीअयोध्या-सरयूका सम्बन्ध भी है। श्रीसरयूजी श्रीअयोध्याजीके लिये ही आयी हैं। इसीसे उन्होंने आगे अपना नाम रहनेकी चिन्ता न की। गङ्गाके मिलनेपर अपना नाम छोड़ दिया। दोहा ४० अर्धाली १ देखिये। अतः दोनोंको साथ-साथ एक ही अर्धालीमें रखा गया। आदिमें '*बंदउँ*' और अन्तमें '*कलिकलुष नसावनि*' को देकर जनाया कि ये दोनों पद '*अवधपुरी*' और '*सरजू*' दोनोंके साथ हैं। '*अति पावनि*' देहलीदीपक है।

नोट—२ '*अति पावनि*' इति। इसका भाव निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है। स्कन्दपुराण वैष्णवखण्ड २ अयोध्यामाहात्म्य अ० १२में, अयोध्यामाहात्म्य अ० १०में श्रीअयोध्याजी और श्रीसरयूजीका माहात्म्य इस प्रकार कहा है—'**मन्वन्तरसहस्रैस्तु काशीवासेषु यत्फलम्। तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते॥ मथुरायां कल्पमेकं वसते मानवो यदि। तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते॥ षष्टिवर्षसहस्राणि भागीरथ्यावगाहजम्। तत्फलं निमिषार्द्धेन कलौ दाशरथीं पुरीम्॥**'(२७, २९, ३२) अर्थात् हजार मन्वन्तरतक काशीवास करनेका जो फल है वह श्रीसरयूजीके दर्शनमात्रसे प्राप्त हो जाता है। मथुरापुरीमें एक कल्पतक वास करनेका फल सरयूदर्शनमात्रसे प्राप्त हो जाता है। साठ हजार वर्षतक गङ्गाजीमें स्नान करनेका जो फल है वह इस कलिकालमें श्रीरामजीकी पुरी श्रीअयोध्यामें आधे पलभरमें प्राप्त हो जाता है। और, अ०१ में कहा है कि श्रीअयोध्यापुरी पृथ्वीको स्पर्श नहीं करती, यह विष्णुके चक्रपर बसी हुई है। यथा—'**विष्णोराद्या पुरी चेयं क्षितिं न स्पर्शति द्विज। विष्णोः सुदर्शने चक्रे स्थिता पुण्यकरी स्थितौ॥**'(१। ६२) प्रायः ये सब श्लोक रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्य अ० ३ श्लोक ७०, ७३, ७७ और १। ६४ में ज्यों-के-त्यों हैं। फिर श्रीवचनामृत भी है—'*जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥*' (७। ४) और अवधपुरीको वैकुण्ठसे भी अधिक प्रिय कहा है। तो क्या बिना कोई विशेषताके?

महानुभावोंने '*अति पावनि*' के अनेक भाव कहे हैं— (क) सात पुरियाँ मोक्षकी देनेवाली हैं। यथा—**अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। द्वारावती तथा ज्ञेया सप्तपुर्यश्च मोक्षदाः॥**' (रुद्रयामल अयोध्या-माहात्म्य ३०। ५४) ये सातों पुरियाँ विष्णुभगवान्‌के अङ्गमें हैं, इन सबोंमें श्रीअयोध्यापुरी अग्रगण्य है। शरीरके अङ्गोंमें मस्तक सबसे ऊँचा होता है और सबका राजा कहलाता है। विष्णुभगवान्‌के अङ्गमें श्रीअयोध्यापुरीका स्थान मस्तक है। यथा—रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्य (२। ५८)—'**विष्णोः पादमवन्तिकां गुणवतीं मध्यं च काञ्चीपुरी नाभिं द्वारवतीं वदन्ति हृदयं मायापुरीं योगिनः। ग्रीवामूलमुदाहरन्ति मथुरां नासां च वाराणसीमेतद् ब्रह्मपदं वदन्ति मुनयोऽयोध्यापुरीं मस्तकम्॥**' पुनश्च यथा—'**कल्पकोटिसहस्राणां काशीवासस्य यत्फलम्। तत्फलं क्षणमात्रेण कलौ दाशरथीं पुरीम्॥**' सब पावनी हैं और यह अति पावनी है। पुनः (ख) गोलोकादि पावन हैं, क्योंकि इसके अंशांशसे हैं। यह अंशी है; इसलिये '*अति पावनि*' है। प्रमाण वसिष्ठसंहिता '**अयोध्या नगरी नित्या सच्चिदानन्दरूपिणी। यदंशांशेन गोलोकवैकुण्ठाद्याः प्रतिष्ठिताः॥**' (सन्त-उन्मनीटीका) (ग) पावनको भी पावन करनेवाली। (घ) श्रीसीतारामजीका निवास और विहारस्थल होनेसे '*अति पावनि*' है। तीर्थराज प्रयाग कहीं नहीं जाते, पर श्रीरामनवमीको वे भी श्रीअवध आते हैं। यथा—'*तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं॥*' इसके प्रियत्वके विषयमें श्रीमुखवचन है कि '*जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥ अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥*' फिर भला वह '*अति पावनि*' क्यों न हो! (ङ) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि जो पदार्थ राजस-तामस-गुणरहित है और केवल सात्त्विक गुणयुक्त है, वह 'पावन' कहा जाता है और जो काल, कर्म, गुण, स्वभाव सबसे रहित हो वह '*अति पावन*' है। (च) द्विवेदीजी—'**न योध्या कैश्चिदिति अयोध्या**' अर्थात् चढ़ाई कर जिस पुरीको कोई जीत न सके वह अयोध्या है, इसीका अपभ्रंश

अवध है, ऐसी बहुतोंकी सम्मति है। **'न वधः कैश्चिदिति अवधः'** अर्थात् किसीसे जो नष्ट न हो वह ***'अवध'***। इस व्युत्पत्तिसे ***'अवध'*** यह नाम भी संस्कृत होता है।

नोट—३ तुलसीदासको तो यह ***'अवध'*** नाम ऐसा पसन्द है कि रामायणभरमें उन्होंने यही नाम रखा है। ***'अयोध्या'*** यह नाम कहीं नहीं रखा, केवल एक स्थानपर आया है। यथा—***'दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगरु बिराग बिसरावहिं॥'*** (७। २७) श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीने ***'रामसुधा'*** ग्रन्थके चौथे पदमें ***'अयोध्या'*** की व्याख्या यों की है। ***'अवधकी महिमा अपरंपार, गावत हैं श्रुति चार। विस्मित अचल समाधिनसे 'जो ध्याई, बारंबार। ताते नाम अयोध्या गायो यह ऋग बेद पुकार॥ रजधानी परबल कंचनमय अष्टचक्र नवद्वार। ताते नाम अयोध्या पावन अस यजु करत बिचार॥ 'अकार यकार उकार देवत्रय ध्याई' जो लखि सार। ताते नाम अयोध्या ऐसे साम करत निरधार॥ जगमग कोश जहाँ अपराजित ब्रह्मदेव आगार॥ ताते नाम अयोध्या ऐसो कहत अथर्व उदार॥'*** (रा० प०) रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्यमें शिवजी कहते हैं— **'श्रूयतां महिमा तस्या मनो दत्त्वा च पार्वति। अकारो वासुदेवः स्याद्यकारस्ते प्रजापतिः॥ उकारो रुद्ररूपस्तु तां ध्यायन्ति मुनीश्वराः। सर्वोपपातकैर्युक्तैर्ब्रह्महत्यादिपातकैः॥ न योध्या सर्वतो यस्मात्तामयोध्यां ततो विदुः। विष्णोराद्यापुरी चेयं क्षितिं न स्पृशति प्रिये॥ विष्णोः सुदर्शने चक्रे स्थिता पुण्याकरा सदा।'** अर्थात् हे पार्वती! मन लगाकर अयोध्याजीकी महिमा सुनो। ***'अ'*** वासुदेव हैं। ***'य'*** ब्रह्मा और ***'उ'*** रुद्ररूप हैं ऐसा मुनीश्वर उसका ध्यान करते हैं। सब पातक और उपपातक मिलकर भी उससे युद्ध नहीं कर सकते; इसीलिये उसको अयोध्या कहते हैं। विष्णुकी यह आद्यापुरी चक्रपर स्थित है, पृथ्वीका स्पर्श नहीं करती। (१। ६१—६४)

नोट—४ ***'कलिकलुष नसावनि'*** इति। कलियुगके ही पापोंका क्षय करनेवाली क्यों कहा, पापी तो और युगोंमें भी होते आये हैं? उत्तर यह है कि यहाँ गोस्वामीजीने और युगोंका नाम इससे न दिया कि औरोंमें सतोगुण-रजोगुण अधिक और तमोगुण कम होता है। पाप तमोगुणहीका स्वरूप है। कलि-युगमें तमोगुणकी अधिकता होती है, सत्त्व और रज तो नाममात्र रह जाते हैं, जैसा उत्तरकाण्डमें कहा है—***'नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राममाया के प्रेरे॥ सुद्ध सत्त्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥ सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥ बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥ तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥'*** (१०४) पुनः श्रीमुखवचन है कि ***'ऐसे अधम मनुज खल कृतयुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥'*** (७। ४०) पुनः, ***'कलि केवल मलमूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥'*** (१।२७) जब ऐसे कलिके कलुषकी नाश करनेकी शक्ति है तो अल्प पाप विचारे किस गिनतीमें होंगे!

प्रनवौं पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥ २॥

अर्थ—फिर मैं श्रीअयोध्याजीके नर और नारियोंको प्रणाम करता हूँ, जिनपर प्रभु (श्रीरामचन्द्रजी) की ममता थोड़ी नहीं है अर्थात् बहुत है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) पुर-नर-नारियोंकी वन्दना की, क्योंकि उनपर प्रभुकी ममता बहुत है, वे पुण्यपुञ्ज हैं। यथा—***'हम सब पुन्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥'*** (२। २७४) (ख) ***'ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी।'*** यह चौपाईके अन्तमें दिया है। इससे इसको ऊपरकी चौपाईमें भी लगा लेना चाहिये। दूसरी चौपाईके अन्तमें इसे देकर बताते हैं कि ***'अवध'*** में ममता है और अवधपुरीके नारि-नरमें भी ममता है। दोनोंपर ममत्व जनानेके लिये ही ***'पुर'*** का सम्बन्ध दिया गया। पुरमें वास करनेके सम्बन्धसे प्रियत्व जनाया है। यथा—***'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।'''''अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥'''''अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥'*** (७।४) (ग) अवधवासियोंको जगन्नाथरूप कहा है। यथा—**'अयोध्या च परं ब्रह्म सरयूः सगुणः पुमान्। तन्निवासी जगन्नाथः सत्यं सत्यं**

वदाम्यहम्॥' (रुद्रयामल अ० मा० २। ६७) अर्थात् अयोध्याजी परब्रह्म हैं और सरयूजी सगुण ब्रह्म हैं। अयोध्यावासी जगन्नाथरूप हैं, हम सत्य-सत्य कहते हैं।

सियनिंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए॥ ३॥

शब्दार्थ—**निंदक**=निन्दा करनेवाले। **ओघ**=समूह। **बिसोक**=शोकरहित। **बनाइ**=बनाकर। करके।=पूर्णतया, पूरी तरहसे।=अच्छी तरहसे।

अर्थ—१ (उन्होंने) श्रीसीताजीकी निन्दा करनेवाले (अपने पुरीमें ही रहनेवाले धोबी अथवा पुरवासियों) के पापसमूहका नाश किया और अपने विशोकलोकमें आदरसहित उनको वास दिया॥ ३॥

अर्थ—२ श्रीसीताजीके निन्दकके पापसमूहको नाशकर उनको शोकरहित करके अपने लोकमें बसाया।

अर्थ—३ सियनिन्दक पापसमूहको नाशकर विशोकलोक बनाकर उसमें उनको बसाया। (यहाँ '**विशोक**' लोक=सान्तानिकपुर)।

अर्थ—४ सियनिन्दक धोबी आदिके पापोंका नाश किया और अपने पुरमें उन्हें शोकरहित करके बसाये रखा। (यहाँ *'लोक'* का अर्थ *'पुर'* किया है)।

नोट—१ अर्थ ३ से *'ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी'* का महत्त्व घट जाता है। दूसरे *'मम धामदा पुरी सुखरासी'* इस श्रीमुखवचनामृतकी और *'अवध तजे तन नहिं संसारा'* इस वाक्यकी महिमा जाती रहती है। ये वाक्य अर्थवादमात्र ही रह जायेंगे।

नोट—२ पूर्व जो कहा है कि 'जिन्हपर प्रभुकी ममता कुछ थोड़ी नहीं है', अब यहाँ उसी ममत्त्वका स्वरूप दिखाते हैं। *'सिय निंदक'* पुर-नर-नारि हैं, जिनकी वन्दना ऊपर की। वाल्मीकीय रामायण तथा अध्यात्मरामायणमें यह कथा दी है और गीतावलीसे भी पुरवासियोंहीका निन्दा करना पुष्ट होता है। गीतावली उत्तरकाण्ड पद २७ में कहा है कि *'चरचा चरनिसों चरची जानमनि रघुराइ। दूत-मुख सुनि लोक-धुनि धर धरनि बूझी आइ॥'* ममता यह दिखायी कि प्राणप्यारी श्रीसीताजीका परित्याग सहन किया, निन्दकको दण्ड न दिया, किन्तु अयोध्यामें उसको बसाये रखा और निन्दाके शोकसे भी रहित कर दिया। ऐसा सहनशील प्रभु और कौन होगा? ऐसा लोकमर्यादाका रक्षक कौन होगा? प्रजाको प्राणसे भी अधिक माननेवाला कौन होगा? उनको अपनी प्रजाके लिये कैसा मोह है! वे यह नहीं सह सकते कि प्रजा दुराचारिणी हो जाय। 'मर्यादापुरुषोत्तम' पदवी इन्हींको मिली है, फिर भला वे कब सह सकेंगे कि उनकी प्रजा 'मनुष्यत्व' और 'धर्मनीति' मर्यादासे गिर जाय? यद्यपि कलङ्क सर्वथा झूठा है, यद्यपि उसके साक्षी देवता मौजूद हैं, पर इस समय यदि प्रजाका समाधान देवता भी आकर कर देते तो भी प्रजाके जीसे उसका अंकुर न जाता। मन, कर्म, वचन तीनोंसे उनको सदाचारी बननेका सर्वोत्तम उपाय यही हो सकता था; अन्य नहीं। पातिव्रत्यधर्मकी मर्यादा नष्ट न होने पावे, राज्य और राजाके आचरणपर धब्बा न लगाया जा सके, इत्यादि विचार राजा रामचन्द्रजीके हृदयमें सर्वोपरि विराजमान थे। तभी तो उनके दस हजार वर्षसे भी अधिक राज्यके समयमें अकालका नाम भी न सुना गया, श्वानादिके साथ भी न्याय हुआ। सोचिये तो आजकलके राजा और प्रजाकी दशा! क्या किसी रानीके चरितपर कलङ्क लगानेवाला जीता रह सकता था? क्या आजकलके न्याय और न्यायालय हमें सत्यधर्मसे च्युत नहीं करते? इत्यादि। विनयके *'बालिस बासी अवधको बूझिये न खाको। सो पाँवर पहुँचो तहाँ जहँ मुनि-मन थाको॥'* (पद १५२) से भी अनेक पुरवासियोंका निन्दा करना पाया जाता है।

अध्यात्मरामायणमें उत्तरकाण्डके चौथे सर्गमें लिखा है कि '**दशवर्षसहस्त्राणि मायामानुषविग्रहः। चकार राज्यं विधिवल्लोकवन्द्यपदाम्बुजः॥ ······ देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते। कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम्॥ त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः॥** अर्थात् मायामानुषरूपधारी श्रीरामजीने जिनके

चरणकमलोंकी वन्दना त्रैलोक्य करता है, विधिपूर्वक दस हजार वर्ष राज्य किया॥ तत्पश्चात् एक दिन महारानीजीने उनसे कहा कि देवता मुझसे बार-बार कहते हैं कि आप वैकुण्ठ चलें तो श्रीरामजी भी वैकुण्ठ आ जायेंगे, इत्यादि। श्रीरामजीने कहा कि मैं सब जानता हूँ। इसके लिये तुम्हें उपाय बताता हूँ। मैं तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले लोकापवादके मिषसे तुम्हें, लोकापवादसे डरनेवाले अन्य पुरुषोंके समान वनमें त्याग दूँगा। इत्यादि।'(२९, ४१-४२) आपसमें यह सलाह हो जानेपर श्रीरामजीने अपने दूत विजयसे पूछा कि मेरे, सीताके, मेरी माताके, भाइयोंके अथवा कैकेयीजीके विषयमें पुरवासी क्या कहते हैं तब उसने कहा कि '**सर्वे वदन्ति ते।''''किन्तु हत्वा दशग्रीवं सीतामाहृत्य राघवः। अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्वं वेश्म प्रत्यपादयत॥ अस्माकमपि दुष्कर्म योषितां मर्षणं भवेत्। यादृग् भवति वै राजा तादृश्यो नियतं प्रजाः॥**' (५०—५२) अर्थात् सभी कहते हैं कि उन्होंने रावणको मारकर सीताजीको बिना किसी प्रकारका सन्देह किये ही अपने साथ लाकर रख लिया। अब हमें भी अपनी स्त्रियोंके दुश्चरित सहने पड़ेंगे, क्योंकि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी होती है।

प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकारों करुणासिन्धुजी, काष्ठजिह्वास्वामीजी, पंजाबीजी आदि और पं० रामकुमारजीने मुख्य अर्थ यही दिया है। कुछ लोग *'सिय-निंदक मतिमंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई'* विनयके इस पद १६५के उद्धरणके बलपर *'सिय निंदक'* से 'धोबी' का अर्थ ग्रहण करते हैं। लगभग दस हजार वर्ष राज्य कर चुकनेके पीछे प्रभुकी इच्छासे नगरमें कुछ काना-फूसी श्रीजानकीजीके बारेमें होने लगी। यह चर्चा सर्वत्र गुप्तरूपसे प्रारम्भ हुई, प्रकटरूपसे एक धोबीका निन्दा करना पाया जाता है। यह धोबी कौन था? इसके प्रसङ्गमें यह कथा है कि वह पूर्वजन्ममें शुक था। यह शुक अपनी शुकीके साथ क्रीड़ा कर रहा था। श्रीजानकीजीका उस समय बालपन था। आपने दोनोंको अलग-अलग पिंजरेमें कर दिया। शुकने वियोगमें आपको शाप दिया कि जैसे तुमने हमको शुकीसे छुड़ाया, वैसे ही तुम्हारा भी विछोह तुम्हारे पतिसे होगा।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'अवधवासी सब कृतार्थरूप हैं। यथा—*'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप।'* (७।४७) तब उन्होंने ऐसे कठोर वचन कैसे कहे? और फिर श्रीरघुनाथजीने यह भागवतापराध कैसे क्षमा कर दिया?' इसका समाधान यह है कि—(क) उनका कोई अपराध नहीं है। बालकृष्णदास स्वामी 'सिद्धान्ततत्त्वदीपिकाकार' लिखते हैं—*'तिहि जो कह्यौ राम हौं नाहीं। इती शक्ति कहँ है मो माहीं॥ जिहि आवत रावण है जान्यो। राखहु छाया सियहि बखान्यो॥ लै निज प्रिया अग्नि महँ राखी। जननी जानि तेहि सुअभिलाषी॥ छाया हरणहारहू मार्‌यो। यों जग महँ निज यश विस्तार्‌यो॥ तिहि समता अब हौं क्यों करों। या करि जग अपयश ते डरों। सियहू रूपशील गुण करि कै। सब बिधि अतुल पतिब्रत धरिकै। अपनो पिय अस वश तेहि कीनो। निशि दिन रहै तासु रस भीनो॥ तिहि सम तू न हौं न बस तेरे। यों नहिं तुहि राखों निज नेरे॥'* इस प्रकार उसने श्रीजानकीजीके गुण गाकर अपनी स्त्रीको शिक्षा दी। उसके अन्त:करणमें तो कोई विकार न था, परन्तु ऊपरसे सुननेमें लोगोंको अनैसी (बुरी) लगी। प्रभु तो हृदयकी लेते हैं। यथा—*'कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की।'* पुनः (ख) वाल्मीकिजी सीताजीको पुत्रीरूपसे भजते थे। उनकी आशा पूर्ण करनेके लिये यह चरित किया। पुनः, (ग) अपने वीरोंको अभिमान हो गया था कि रावण-ऐसेको हमलोगोंने जीता, उन सबोंका अभिमान अपने पुत्रोंद्वारा नाश करानेके लिये लीला की। पुनः, (घ) पिताकी शेष आयुका भोग करना है, उस समय सीताजीको साथ रखनेसे धर्ममें बट्टा लगता। अतः रजकद्वारा यह त्यागका चरित किया। इसमें रजकका दोष क्या?

नोट—३ *'सियनिंदक अघ ओघ नसाए'* इति। भाव यह कि साधारण किसीकी भी निन्दा करना पाप है। यथा—*'पर निंदा सम अघ न गरीसा'* (७। १२१) श्रीसीताजी तो 'आदिशक्ति' ब्रह्मस्वरूपा हैं कि *'जासु कृपाकटाक्ष सुर चाहत चितव न सोइ'* और *'जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥'* (१।१४८) इनकी निन्दा करना तो पापका समूह ही बटोरना है। इसलिये *'अघ ओघ'* कहा।

नोट—४ कोई-कोई लोग (जो भगवद्भक्त नहीं हैं) सीतात्यागके कारण श्रीरामचन्द्रजीपर दोषारोपण करते हैं। साधारण दृष्टिसे उसका उत्तर यह है कि भगवान्के छः ऐश्वर्योंमेंसे एक 'वैराग्य' भी है। अर्थात् कामिनीकाञ्चनका त्याग। 'काञ्चन' अर्थात् राज्यवैभवका त्याग जिस प्रकार हँसते-हँसते भगवान्ने वनगमनके समय किया था—*'नवगयंद रघुबंसमनि राज अलान समान।'''''उर अनंद अधिकान',* उसी तरह अनासक्त भावसे विशुद्धचरिता, पतिव्रता, निज भार्याका त्याग भी भगवान्ने मिथ्यापवादके कारण किया। और महापतित रजकके दोषपर तनिक भी ध्यान न देते हुए उसे परधाममें आश्रय दिया, उसपर जरा भी रोष नहीं प्रकट किया। इस प्रकार रागरोषरहित मानसका परिचय दिया। इसी तरह लोकमतका आदर करके उन्होंने परमोत्कृष्ट नैतिक भावकी प्रतिष्ठा की, एवं इसी मिषसे वात्सल्यरस-रसिक महर्षि वाल्मीकिकी पुरातन इच्छाकी पूर्ति की। विशेष (७। २४। ७) *'दुइ सुत सुंदर सीता जाये'* में भी देखिये। कुछ पूर्व नोटमें भी उत्तर आ गया है।

नोट—५ *'लोक बिसोक बनाइ बसाए'* इति। पुरवासियों (अथवा धोबी) के *'अघ ओघ'* का नाश करके फिर क्या किया? उसको कौन धाम मिला? इसपर महानुभाव अनेक भाव कहते हैं और ये सब भाव *'लोक बिसोक''''''*' से ही निकाले हैं—(क) विनयपत्रिकाके *'तिय-निंदक मतिमंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई'* के आधारपर पं० रामकुमारजी यह भाव कहते हैं कि श्रीसीताजीकी निन्दा करनेसे दिव्य लोककी प्राप्ति नाश हो गयी थी, इसलिये दूसरा *'बिसोक लोक'* जहाँ गिरनेका शोक नहीं है अर्थात् (अक्षयलोक) बनाकर उसमें उसको बसाया। यही विनयपत्रिकावाला 'नया नगर' है। (ये 'नय' का अर्थ 'नया' करते हैं। 'नय' का अर्थ 'लोकोत्तर नीतिसे' भी टीकाकारोंने किया है।) (ख) करुणासिन्धुजी एवं रा० प० का मत है कि श्रीअयोध्या विरजानदीके पार अयोध्याके दक्षिणद्वारपर (सांतानिकपुर) है, जिसकी 'वन' संज्ञा है, (जैसे वृन्दावन, काशी आनन्दवन, अयोध्या-प्रमोदवन और प्रयाग-बदरीवन) जो अयोध्याहीमें है, वहाँ बसाया। भार्गवपुराण और सदाशिवसंहिताका प्रमाण भी दिया है। यथा—'**त्रिपादभूतिवैकुण्ठे विरजायाः परे तटे। या देवानां पुरायोध्या ह्यमृते तां नृतां पुरीम् ॥ साकेतदक्षिणद्वारे हनुमन्नामवत्सलः। यत्र सांतानिकं नाम वनं दिव्यं हरेः प्रियम्॥**' (१-२) यह भाव 'अर्थ ३' के अनुसार है।

नोट—६ कुछ महानुभाव *'बिसोक'* को *'लोक'* का विशेषण न मानकर उसे 'बनाइ' के साथ लेकर यों अर्थ करते हैं कि 'विशोक बनाकर अपने लोकमें बसाया' अर्थात् शक्ति होते हुए भी क्षमा की और श्रीअयोध्याजीमें ही आदरपूर्वक बसाये रखा अथवा, उनको शोकरहित करके तब अपने साथ अपने लोकको ले गये। निन्दारूपी पापके कारण शोक या चिन्ता थी कि हमारी गति कैसे होगी? हम तो नरकमें पड़ेंगे इत्यादि। विनायकी टीकाकारजी *'बिसोक बनाइ'* का भाव यह लिखते हैं कि श्रीसीताजीके पातिव्रत्यपर सन्देह था, इसीसे उनके जीमें इनकी तरफसे शोक था। उस सन्देह और शोकको श्रीवाल्मीकिजी तथा श्रीसीताजीको श्रीरामजीने सबके सामने बुलाकर सत्य शपथ दिलाकर मिटाया; जैसा सर्ग ७ उत्तरकाण्ड अध्यात्मरामायणमें कहा है। यथा—'**भगवन्तं महात्मानं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम्। आनयध्वं मुनिवरं ससीतं देवसम्मितम्॥ अस्यास्तु पार्षदो मध्ये प्रत्ययं जनकात्मजा। करोतु शपथं सर्वे जानन्तु गतकल्मषाम्॥**'(१७-१८) इत्यादि। अर्थात् 'श्रीरामजीने कहा कि देवतुल्य मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीवाल्मीकिजीको सीताजीके सहित लाओ। इस सभामें जानकीजी सबको विश्वास करानेके लिये शपथ करें, जिससे सब लोग सीताजीको निष्कलङ्क जान जायें।' दोनों सभामें आये। पहले महर्षि वाल्मीकिजीने शपथ खायी, फिर श्रीजानकीजीने। करुणासिन्धुजी एवं पंजाबीजी *'बनाइ'* का अर्थ 'अपना स्वरूप बनाकर' भी करते हैं। इस अर्थमें *'बनाइ'* 'बसाए' का क्रियाविशेषण होगा।

ये भाव अर्थ २ और ४ के अनुसार हैं।

बंदौं कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माची॥ ४॥
प्रगटेउ जहं रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुसारू॥ ५॥

शब्दार्थ—**प्राची**=पूरब। **माची**=फैली। **तुसारू**=पाला।

अर्थ—मैं कौसल्यारूपी पूर्व दिशाको प्रणाम करता हूँ जिसकी कीर्त्ति सब जगत्‌में फैली है॥ ४॥ जहाँ संसारको सुख देनेवाले और खलरूपी कमलको पालारूपी श्रीरघुनाथजी सुन्दर चन्द्रमारूप प्रकट हुए॥ ५॥

नोट—(१) यहाँ श्रीकौसल्या अम्बाको पूरब दिशा, श्रीरामचन्द्रजीको चन्द्रमा और दुष्टोंको कमल कहा है। पूरा रूपक नीचेके मिलानसे समझमें आ जायेगा।

श्रीकौसल्याजी	पूरब दिशा
१ कौसल्याजीकी कीर्त्ति जगत्‌में फैली, यही प्रकाश है।	चन्द्रोदयके पहले प्रकाश पूरबमें होता है।
२ यहाँ श्रीरामजी प्रकट हुए।	प्रकाशके पीछे चन्द्रमा निकलता है।

चन्द्रमामें विकार भी होता है, इसलिये रघुपतिको '*ससि चारू*' की उपमा दी। चन्द्रमाका जन्म होता है। यथा—'***जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक।***' (१।२३७) श्रीरामजी अजन्मा हैं। 'प्राची' पदके सम्बन्धसे '**चारू**' से पूर्णचन्द्रका अर्थ होता है। पूर्व दिशामें वही उदय होता है।

३ कौसल्याजीके यहाँ इनका प्रकट होना कहा। अर्थात् गर्भसे नहीं हुए। यथा— '***होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे***', '***भए प्रगट कृपाला***' इत्यादि।	चन्द्रमाका जन्म पूरबमें नहीं होता, वहाँ वह प्रकट भर होता है।
४ रामचन्द्रजीका प्रादुर्भाव भी संसारके सुखका हेतु हुआ।	चन्द्रमाके निकलनेसे संसारको सुख होता है।
५ यहाँ खलोंका वध होता है।	चन्द्रमासे कमल झुलस जाता है।

आश्चर्यरामायणमें इनके जोड़के श्लोक ये कहे जाते हैं '**श्रीकोशलेन्द्रदयिता राममाता यशस्विनी। प्राच्या सा वन्दनीया मे कीर्त्तिर्यस्यास्ति विश्रुता॥ रामचन्द्रमसं चारु प्रादुर्भूतं सनातनम्। खलाब्जं हिमवद्भाति साधूनां सुखदायकम्॥ कौशल्यायै नमस्यामि यथा पूर्वा दिगुत्तमा। प्रादुर्भावो बभौ रामः शीतांशुः सर्वसौख्यदः॥**'(१—३)

नोट—२ '***कौसल्या दिसि प्राची***' इति। द्वितीयाका चन्द्रमा माङ्गलिक है, इसकी सब वन्दना करते हैं; परन्तु यह चन्द्रमा कलाहीन होता है, पश्चिममें उदय होता है और दूसरेके आश्रित है। पूरब दिशा कहकर पूर्णिमाका चन्द्रमा सूचित किया जो अपनी पूर्ण षोडश कलाओंसे उदय होता है, इसी तरह श्रीकौसल्याजीके यहाँ श्रीरामजी पूर्णकलाके अवतार हुए। इसी प्रकार श्रीकृष्णजीका जन्म श्रीमद्भागवतमें देवकीरूपिणी प्राची दिशासे कहा गया है। यथा— '**देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः। आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥**' (भा० १०।३।८) अर्थात् जैसे पूर्वदिशामें पूर्णचन्द्र प्रकट होता है उसी प्रकार देवरूपिणी देवकीजीकी कोखसे सर्वान्तर्यामी विष्णु प्रकट हुए।

गोस्वामीजी यहाँ '***रघुपति ससि***' का प्रकट होना कहकर जनाते हैं कि जिनका 'रघुनाथ' नाम है वे अवतरे हैं। विष्णुनामधारी भगवान् रघुपति होकर नहीं अवतरे। वे पूर्वसे ही रघुपति हैं। इसी प्रकार वाल्मीकीयमें '**कौशल्या जनयेद्रामम्**' शब्द हैं। अर्थात् श्रीरामजी अवतरे, न कि विष्णु। नामकरणके पूर्व ही जिनका नाम 'राम' था, उनका अवतार सूचित किया।

नोट—३ '***खल कमल तुसारू***' इति। (क) कमलको यहाँ खलकी उपमा दी। यह 'विपर्यय अलङ्कार' है। चन्द्रमाके योगसे कमलको खल कहा। (मा० प्र०) अथवा, 'कमलमें खलत्व यह है कि जिस जलसे उसकी उत्पत्ति होती है उसीसे वह विमुख रहता है, वैसे ही खल प्रभुसे उत्पन्न होते हुए भी उनसे विमुख रहते हैं।' (रा० प्र० वै०)। (ख) '**विश्व सुखद**' इति। संसारमें तो सन्त और खल दोनों हैं, खलोंको तो सुख नहीं होता फिर '**विश्व सुखद**' कहनेका क्या भाव है? उत्तर—अधिक लोगोंको सुख होता है, इसलिये '**विश्व सुखद**' कहा।

टिप्पणी—१ (क) 'आदिमें कौसल्याजीकी वन्दना की, अन्तमें राजा दशरथजीकी। आदि-अन्तका सङ्ग है। सब रानियोंको सङ्ग कहा और आगे-पीछेका सब कायदा रखा।' (ख) कौसल्याजीकी अकेले वन्दना की, इसीसे फिर कहा कि सब रानियोंकी दशरथसहित वन्दना करता हूँ। तात्पर्य यह है कि (१) कौसल्याजी सुकृत और कीर्त्तिमें राजा और सब रानियोंसे अधिक हैं। श्रीरामजी इनसे प्रकट हुए। इसीसे कौसल्याजीकी प्रथम वन्दना की। और पृथक् किसीको समतामें न रखा। अथवा, (२) यहाँ प्रथम जो वन्दना की गयी यह मनुपत्नी श्रीशतरूपा—कौसल्याजीकी वन्दना है और आगे दोहेमें *'बंदौं अवध भुआल'* यह मनु—दशरथकी वन्दना है। मनु-प्रसङ्गमें *'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत'* जो प्रभुने कहा था, उसीका *'अवध भुआल'* शब्द दोहा १६में देकर जना दिया कि यह वन्दना उन्हीं मनु—दशरथकी है। परात्पर ब्रह्म रामके माताकी वन्दना यहाँ की और दोहेमें उन्हींके पिताकी। इसके आगे जो *'दशरथ राउ सहित सब रानी'* की वन्दना है, वह कश्यप-अदितिके अवतार श्रीदशरथ-कौसल्या आदिकी है। इसका प्रमाण आकाशवाणीके *'कश्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरबबर दीन्हा॥ ते दसरथ कौसल्यारूपा। कोसलपुरी प्रगट नरभूपा॥'* (१। १८७) वही *'दसरथ'* नाम देकर *'दसरथ राउ सहित सब रानी'* में कश्यप-दशरथ आदिकी वन्दना की। (३) मनु और शतरूपाको वरदान पृथक्-पृथक् दिया गया था। यथा—*'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत'* यह वरदान मनुजीको दिया। उससे पृथक् श्रीशतरूपाजीकी रुचि पूछकर *'देबि माँगु बरु जो रुचि तोरे।'* तब उनको वर दिया। *'जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥'* अतएव दोनोंकी वन्दना पृथक्-पृथक् की गयी। जैसे वरमें *'होइहहुँ प्रगट निकेत तुम्हारे'* कहा और प्रादुर्भावके समय *'भए प्रगट कृपाला'* कहा है, वैसे ही यहाँ *'प्रगटे जहँ'* कहा गया। अथवा, (४) श्रीरामजीमें जो कौसल्याजीका भाव है वह सबसे पृथक् है, इससे इनको सबसे पृथक् कहा। अथवा, (५) सब रानियोंसे बड़ी होनेसे प्रथम कहा और पितासे माताका गौरव अधिक है, इसलिये प्रथम इनकी वन्दना की, तब दशरथ महाराजकी। अथवा, (६) श्रीरामचन्द्रजीने शतरूपारूपहीमें आपको माता मान लिया और उसी शरीरमें आपको माता कहकर सम्बोधन किया था। यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरे'* इत्यादि। (१। १५०) इसलिये कौसल्या माताकी वन्दना प्रथम की। पुनः, 'यह सनातन परिपाटी है कि पहले शक्तिकी वन्दना करते हैं, इसीका निर्वाह कविने किया है। अर्थात् पहले बड़ी अम्बा कौसल्याजीकी वन्दना की फिर महाराज दशरथकी।

दसरथ राउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी॥ ६॥
करौं प्रनाम करम मन बानी। करहु कृपा सुत सेवक जानी॥ ७॥

अर्थ—राजा दशरथजीको सब रानियोंसहित पुण्य और सुन्दर मङ्गलोंकी मूर्ति मानकर मैं कर्म-मन-वचनसे प्रणाम करता हूँ। (आप सब) अपने सुतका सेवक जानकर मुझपर कृपा करें॥ ६-७॥

नोट—१ (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सब रानियाँ और राजा सुकृतमें बराबर हैं। राजाने सुकृत किये, इसलिये रामजीके पिता हुए। रानियोंने सुकृत किये, इसलिये रामजीकी माता हुईं। इसीसे एक साथ वन्दना है। सुकृतसे सुमङ्गल होते हैं, ये दोनोंकी मूर्ति हैं।' वसिष्ठजीने भी ऐसा ही कहा है यथा—*'पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई॥'''''तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥ सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके॥ तुम्ह कहुँ सर्व काल कल्याना।'* (१। २९४) (ख) 'सब रानी' इति। स्मरण रहे कि श्रीमद्गोस्वामीजीके मतानुसार राजा दशरथजीके ७०० रानियाँ थीं, जैसा कि गीतावलीमें बालकाण्डके अन्तिम पदमें उन्होंने कहा है। यथा—*'पालागनि दुलहियन सिखावति सरिस सासु सत-साता। देहिं असीस ते बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता।'* (११०) परन्तु मानसकाव्य आदर्शकाव्य रचा गया है, इसी कारण इसमें आदर्श चरितोंका वर्णन है। केवल तीन ही रानियोंके नाम और उन्हींकी चर्चा इसमें की गयी है। तीन स्त्रियोंका होना भी आदर्श नहीं है, तथापि इसके बिना कथानक पूरा नहीं हो सकता था। (ग) 'सुत

सेवक जानी' इति। पुत्रका सेवक अति प्रिय होता ही है। माता-पिता सुतका टहलुआ जानकर अधिक कृपा करते हैं। मैं भी सुतसेवक हूँ, इसलिये मुझपर भी अधिक कृपा कीजिये। (रा० प्र०)

जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता॥ ८॥

शब्दार्थ—***अवधि*** =सीमा, हद, मर्यादा। ***बिरचि***=अच्छी तरह रचकर।

अर्थ—जिनको रचकर ब्रह्माने भी बड़ाई पायी (और जो) श्रीरामचन्द्रजीके माता-पिता (होनेसे) महिमाकी सीमा हैं॥ ८॥

नोट—१ (क) भाव यह है कि राजा और रानियाँ परात्पर परब्रह्म श्रीरामचन्द्रजीके माता-पिता हुए, फिर भला उनसे बढ़कर महिमा और किसकी हो सकती है ? ऐसी महिमाकी जो सीमा हैं उनको किसने उत्पन्न किया? ब्रह्माजीने इनको बनाया है। यही ब्रह्माको बड़प्पन मिला। इसीसे ब्रह्माजी बड़े कहलाये। (ख) करुणासिन्धुजी ***'महिमा अवधि'*** को श्रीरामचन्द्रजीका विशेषण मानकर अर्थ करते हैं। अर्थात् जो श्रीरामचन्द्रजी महिमाकी अवधि हैं, दशरथ महाराज और रानियाँ उनके पिता-माता हैं। ये माता-पिता ब्रह्माके बनाये हैं। इसलिये ब्रह्माजी धन्य हैं। यह बड़ाई मिली। ब्रह्माजीके पुत्र मनु-शतरूपा हैं, वे ही दशरथ-कौसल्या हुए। (करु०)

सो०—बंदउँ अवध-भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥ १६॥

अर्थ—मैं श्रीअवधके राजाकी वन्दना करता हूँ जिनका श्रीरामजीके चरणोंमें (ऐसा) सच्चा प्रेम था (कि) दीनदयालु भगवान्के बिछुड़ते ही अपने प्यारे शरीरको उन्होंने तिनकेके समान त्याग दिया॥ १६॥

नोट—१ ***'सत्य प्रेम जेहि राम पद'*** इति। श्रीमद्गोस्वामीजी यहाँ बताते हैं कि श्रीरघुनाथजीमें सच्चा प्रेम क्या है? सच्चा प्रेम वही है कि जब वियोगमें हृदयमें विरहाग्नि ऐसी प्रज्वलित हो कि जीवनपर आ बने, उससे मरण अथवा मरणासन्न दशा प्राप्त हो जाय। यदि ऐसा न हुआ तो फिर 'सच्चा प्रेम' कहना व्यर्थ है। देखिये श्रीगोस्वामीजी दोहावलीमें कहते हैं कि सच्चा प्रेम तो 'मीन' का है, क्योंकि 'जल' से बिछुड़ते ही उसके प्राण निकल जाते हैं। यथा—***'मकर उरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीन को, है सांचिलो सनेह॥'*** (३१८) अर्थात् मगर, सर्प, मेंढक, कछुए सबहीका जलमें घर है और सबहीका जीवन जल है, परन्तु सच्चा स्नेह जलसे एक मछलीहीका है जो जलसे बाहर रह ही नहीं सकती, तुरत मर जाती है। इसी तरह संसारमें प्रायः सभी कहते हैं कि 'प्रभो! आप हमारे जीवन हैं, प्राणप्यारे हैं।' पर कितने मनुष्य ऐसे हैं जिनका यह वचन हार्दिक होता है? जो वे कहते हैं उसे सत्य कर दिखाते हैं? और भी देखिये, जब अवधवासियोंको विछोह हुआ तब वे अपने प्रेमको धिक्कारते थे, कहते थे कि हमारा प्रेम झूठा है। यथा—*'निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥'* (२। ८६)

यह उपदेश है कि सच्चे प्रेमी यदि बनना चाहते हो तो ऐसा ही प्रेम करो।

नोट—२ ***'अवध भुआल'*** इति। मनुजीको जब श्रीरामजीने दर्शन दिया था तब मनुजीने यही वर माँगा कि ***'चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ।'*** (१। १४९) प्रभुने एवमस्तु कहा और बोले कि *'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥'* उसी समय शतरूपाजीने भी यही वर पाया। यथा— ***'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥'*** (१। १५०) जब दोनोंको मन-माँगा वर मिल चुका तब ***'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अवर एक बिनती प्रभु मोरी॥ सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥ मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥ अस बरु मागि चरन गहिं रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥'*** प्रभुने तब यह कहा था कि ***'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत'*****......'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा।'*** (१। १५१)

इस कारणसे पहले रानियोंसहित वन्दना करते हुए प्रथम वरके अनुसार केवल 'रामजीके माता-पिता' कहा। दूसरी बार दूसरे वरके अनुसार दुबारा वन्दनामें प्रभुके श्रीमुखवचन *'अवध भुआल'* देकर उसीके साथ '**मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना**' का सत्य होना दिखाया। दशरथजीका यह प्रेम अनूठा था और ऐसा वरदान भी केवल आपहीने माँगकर पाया था, इसलिये आपकी वन्दना पृथक् भी की। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि *'अवध भुआल'* कहकर सूचित किया कि सब सुखको प्राप्त हैं; यथा—*'अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई॥'* (२। ३२४) *'नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे। लोकप करहिं प्रीति रुख राखे॥'* (२। २) ऐसे भी सुखकी इच्छा न की, रामजीके बिना ऐसा भी शरीर (जिसमें ये सुख प्राप्त थे) त्याग दिया। द्विवेदीजीका मत है कि अयोध्याके अनेक राजा हुए। उनका निराकरण करनेके लिये सत्य प्रेम इत्यादि विशेषण दिये हैं। इनसे दृढ़रूपसे दशरथका बोध कराया। (विशेष पूर्व १६ (५) *'बंदउँ कौसल्या……'* में देखिये) यहाँ 'प्रथम पर्यायोक्ति अलङ्कार' है।

नोट—३ मानसमयंककार लिखते हैं कि 'दशरथके नेहको देखकर कि रामविरहमें शरीर त्याग दिया। सब कवियोंके हृदयमें वेह (व्रण) हो गया, क्योंकि काव्यमतानुसार विरहसे मरना अयोग्य है और विरहकी दस दशाओंमेंसे अन्तिम दशा मूर्छा है, मृत्यु नहीं है; परन्तु दशरथजीने शरीर छोड़कर प्रेमको प्रधान सिद्ध किया। इस प्रकार गोसाईजीने काव्यका अनुकरण नहीं किया है, राम प्रेमरसवश काव्य किया, चाहे काव्यरीतिके अनुकूल वा प्रतिकूल हो।' (परन्तु प्रेमके ३३ व्यभिचारियोंमें एक मृत्यु भी है। भक्तिसुधास्वाद पृष्ठ १८ देखिये) पं० शिवलालजी पाठकके मतानुसार यह दोहा उनके भावको जो *'कबित बिबेक एक नहिं मोरे'* का उन्होंने कहा है, पुष्ट करता है। देखिये (९। ११)।

टिप्पणी—*'रामपद'* इति। दशरथजीका श्रीरामजीमें वात्सल्यभाव था। इस भावमें चरणारविन्दका ध्यान नहीं होता, परन्तु यहाँ *'रामपद'* में सत्य प्रेम होना कहा है। इसका कारण यह है कि आपने यह वर माँगा था कि *'सुत बिषइक तव पद रति होऊ।'* वरदानके अनुसार यहाँ ग्रन्थकारने कहा।

नोट—४ *'बिछुरत दीनदयाल'* इति। (क) *'दीनदयाल'* पद दिया, क्योंकि मनुरूपमें तपके समय आपको दीन देखकर बड़ी दया की थी। (पाँड़ेजी, रा० प्र०) पुनः, (ख) बिछुड़नेका हेतु दीनदयालुता है। दीनोंपर दया करके बिछुड़े थे। राक्षसोंके कारण सुर, सन्त—सब दुःखसे दीन हो रहे थे, उनको मारकर इनका दुःख हरनेके लिये श्रीरामजीने पिताका वियोग स्वीकार किया। ऐसा दीनोंपर दयालु कौन होगा? इसलिये *'दीनदयाल'* कहा। (पं० रा० कु०) 'रामजीके बिछुड़ते ही शरीर त्याग दिया। इससे यह पाया जाता है कि राजा उनको देखकर जीते थे। यथा—*'जीवनु मोर दरस आधीना।'* (२। ३३) यहाँ *'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना'* ये वचन सिद्ध हुए।

नोट—५ *'प्रिय तन'* इति। (क) तनको प्रिय कहा क्योंकि इसी तनमें परब्रह्म श्रीरामजी आपके पुत्र हुए। भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा है कि *'एहि तन रामभगति मैं पाई। तातें मोहि ममता अधिकाई॥ जेहि तें कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥'* (७। ९५), *'रामभगति एहि तन उर जामी। तातें मोहि परम प्रिय स्वामी॥'* (७। ९६) और, दशरथमहाराजके तो श्रीरामजी पुत्र ही हुए; फिर यह 'तन' 'प्रिय' क्यों न हो? पुनः, (ख) अपनी देह सभीको प्रिय होती है, जैसा श्रीदशरथमहाराजने स्वयं विश्वामित्रजीसे कहा है। यथा—*'देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥'* (१। २०८) श्रीहनुमान्‌जीने भी रावणसे ऐसा ही कहा है—*'सब के देह परम प्रिय स्वामी।'* (५। २२) इसलिये तनको 'प्रिय' कहा।

नोट—६ *'तृन इव'* कहनेका भाव यह है कि—(क) तिनका फेंक देनेमें किसीको मोह नहीं होता, उसी तरह आपने शरीरपर ममत्व किये बिना ही शरीर त्याग दिया। जैसा कहा है *'सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा॥'* (अयो० १५५) (ख) तिनका आगमें जलता है। यहाँ रामविरह अग्नि है। यथा—*'बिरह अगिनि तन तूल'* (५। ३१) इसलिये रामविरहमें तृन इव तन त्यागना कहा। पुनः, (ग) तृण किसीको प्रिय नहीं होता, तन सबको प्रिय होता है। रामजीके सम्बन्धसे तन 'प्रिय' है और

रामजीके बिछुड़नेसे यह शरीर 'तृणके समान' है। यथा—'*राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥*' (७। ९६) 'उत्प्रेक्षा करनेमें तृण ही उपमान है, त्याग, ग्रहण उत्प्रेक्षणीय हैं,' (अज्ञात)।

नोट—७ यहाँ लोग शङ्का करने लगते हैं कि 'बिछुड़ते ही तो तनका त्याग नहीं हुआ फिर यहाँ '*बिछुरत*' कैसे कहा?' श्रीरामजीके पयान-समयसे लेकर सुमन्त्रजीके लौटनेतक जो दशा राजाकी वर्णित है, उसका पूरा प्रसङ्ग पढ़नेसे यह शङ्का स्वयं ही निर्मूल जान पड़ेगी।

श्रीदशरथजीने सुमन्त्रजीको रामचन्द्रजीके साथ भेजा था। यथा—'*लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू॥*,' '*रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गयें दिन चारि॥*', '*फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥*', '*नाहिं त मोर मरनु परिनामा॥*' (२।८१-८२) इन वचनोंसे विदित होता है कि इनको विश्वास था कि सुमन्त्रजी उनको लौटा लावेंगे। ऐसा भरोसा होते हुए भी वे '*मनि बिनु फनि*' के तुल्य जिये, जबतक सुमन्त्रजी नहीं लौटे। यथा—'*जाइ सुमंत्र दीख कस राजा।* ""*बूड़त कछु अधार जनु पाई*'—(अयो० १४८-१४९) जब सुमन्त्रने आकर हाल कहा तब '*परेउ धरनि उर दारुन दाहू।*""*प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥*""*राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम। तनु परिहरि रघुबर बिरह०।*' (१५३—१५५)

पुनः, दूसरा प्रश्न वे लोग फिर यह करते हैं कि 'जब विश्वामित्रजीके साथ श्रीरामजी गये थे तब भी तो विछोह हुआ, तब शरीर क्यों न त्यागा? उत्तर यह है कि—(क) राजाने विश्वामित्रमें अपना पितृत्व धर्म (अर्थात् श्रीरामजीके प्रति वात्सल्यभावको) स्थापित कर दिया था। यथा—'*मेरे प्राननाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥*' (२०८) जब मुनिको अपनी जगह पिता नियुक्त कर दिया तो फिर तन कैसे त्याग कर सकते थे? तो भी जो वर माँगा था कि '*मनि बिनु फनि*' सा मेरा जीवन हो, वह दशा हो गयी थी। जैसे '*मनि गये फनि जिए ब्याकुल बेहाल रे।*' वही दशा राजाकी जनकपुर पहुँचनेपर दर्शायी है। यथा—'*मृतक सरीर प्रान जनु भेटे।*' (१। ३०८) पुनः (ख) इस वियोगमें इस कारण इनका शरीर नहीं छूटा कि यह क्षणिक था, उन्हें पूर्ण विश्वास था कि वे शीघ्र यज्ञरक्षा करके लौटेंगे, जैसा विश्वामित्रजीके वचनोंसे सिद्ध है—'*बूझिए बामदेव अरु कुलगुरु, तुम पुनि परम सयाने॥ रिपु रन दलि, मख राखि कुसल अति अलप दिननि घर ऐहैं।*' (गीतावली १। ५०) उसमें जटिल तापसिकता नहीं थी। दूसरे, भगवान्के दो अंशरूप श्रीभरत-शत्रुघ्नजी यहाँ विद्यमान थे। सम्पूर्णतः श्रीरामजी अर्थात् तीनों अंशरूप अनुजोंसहित उनका वियोग होता तो मृत्युकी अवश्य अनिवार्य सम्भावना थी। भगवान्के तीनों भाई अंशरूप हैं, इसका उन्हींने पूर्वमें निर्देश किया है—'*अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेइहउँ दिनकर बंस उदारा॥*' (ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी) दूसरे वियोगमें एक भी अंश श्रीअवधमें उपस्थित न था; अथवा, (ग) वरदानमें दो प्रकारकी दशाएँ माँगी थीं, सो पहली दशा पहले वियोगमें और दूसरी दशा दूसरे वियोगमें प्रकट हुई।

प्रनवों परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥ १॥

शब्दार्थ—**परिजन**=परिवारवाले, कुटुम्बी; वे लोग जो अपने भरण-पोषणके लिये किसी एक विशिष्ट कुटुम्बी व्यक्तिपर अवलम्बित हों, जैसे स्त्री, पुत्र, सेवक आदि। **गूढ़**=गुप्त, गम्भीर, बड़ा गहरा।

अर्थ—परिवारसहित राजा जनककी वन्दना करता हूँ, जिनका श्रीरामजीके चरणोंमें गूढ़ स्नेह था॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीजनकमहाराजकी सब प्रजा ब्रह्मज्ञानी है; इसलिये '*परिजन सहित*' कहा। (ख) '*गूढ़ सनेहू*' इति। ऊपर दोहेमें दशरथमहाराजकी वन्दना करते हुए कहा था कि""*सत्य प्रेम जेहि रामपद। बिछुरत दीनदयालु प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥*' और यहाँ श्रीजनकमहाराजका भी 'रामपद' में स्नेह होना कहा। परंतु यहाँ 'गूढ़' विशेषण दिया है। गूढ़ कहकर सूचित करते हैं कि श्रीदशरथमहाराजका प्रेम प्रकट भी था। और इनका गुप्त ही था, इसीसे आपने शरीर नहीं छोड़ा।

नोट—१ '*बिदेहू*' इति। महाराज निमिजी इक्ष्वाकुमहाराजके पुत्र थे। इन्होंने एक हजार वर्षका यज्ञ करनेकी इच्छा की और श्रीवसिष्ठजीको होता वर लिया। वसिष्ठजीने कहा कि इन्द्रने हमें पाँच सौ वर्षके यज्ञके लिये पहले ही निमन्त्रण दे दिया है, उसको पूरा कराके तब तुम्हारा यज्ञ करावेंगे। यह सुनकर

राजा चुप हो गये। '**मौनं सम्मति**' समझकर वसिष्ठजी चले गये। राजाने गौतमजीको बुलाकर यज्ञ आरम्भ कर दिया। इन्द्रका यज्ञ कराके वसिष्ठजी लौटे और निमि महाराजके यहाँ आये। यहाँ देखा कि यज्ञ हो रहा है। राजा उस समय वहाँ नहीं थे, महलमें सो रहे थे। वसिष्ठजीने शाप दिया कि यह राजा देहरहित हो जाय—'**अयं विदेहो भविष्यति**'। राजा सोकर उठे तो उनको यह समाचार मिलनेपर उन्होंने भी वसिष्ठजीको शाप दिया कि हम सो रहे थे, हमको जगाया भी नहीं और न कुछ बातचीत की, बिना जाने शाप दे दिया; अतएव उनका भी देह न रहे। यह शाप देकर उन्होंने देह त्याग दिया। यथा—'**यस्मान्मामसम्भाष्याऽज्ञानत एव शयानस्य शापोत्सर्गमसौ दुष्टगुरुश्चकार तस्मात्तस्यापि देहः पतिष्यतीति शापं दत्त्वा देहमत्यजत्।**' (विष्णुपु० अंश ४ अ० ५। १०) महर्षि गौतम आदिने राजाके शरीरको तेल आदिमें रखकर यज्ञकी समाप्तितक सुरक्षित रखा। यज्ञ-समाप्तिपर जब देवता अपना भाग ग्रहण करनेके लिये आये तब ऋत्विजोंने उनसे कहा कि यजमानको वर दीजिये। देवताओंके पूछनेपर कि क्या वर चाहते हो; निमिने सूक्ष्मशरीरद्वारा कहा कि देह धारण करनेसे उससे वियोग होनेमें बहुत कष्ट होता है, इसलिये देह नहीं चाहता, '**माभूद्देहबन्धनम्**' समस्त लोगोंके लोचनोंपर हमारा वास हो। देवताओंने यही वर दिया। तभीसे लोगोंकी पलकें गिरने लगीं।

महाराज निमिके कोई सन्तान न थी। इसलिये मुनियोंने उनके शरीरका मन्थन किया जिससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके जनन होनेसे 'जनक' नाम हुआ, विदेहका लड़का होनेसे 'वैदेह' और मथनसे पैदा होनेसे 'मिथि' नाम प्रसिद्ध हुआ। यथा—'**जननाज्जनकसंज्ञां चावाप॥ अभूद्विदेहोऽस्य पितेति वैदेहः मथनान्मिथिरिति॥**'(विष्णुपु० अंश ४ अ० ५। २२-२३) राजा निमिको लेकर श्रीसीरध्वजजीतक बाईस राजा इस पीढ़ीमें हुए। इस वंशके सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आये हैं। सभी विदेह और जनक कहलाते हैं। इनकी कथाएँ ब्राह्मणों, उपनिषदों, महाभारत आदि पुराणोंमें भरी पड़ी हैं। श्रीरामजीके समयमें श्रीसीरध्वज महाराज मिथिलाके राजा थे।

शङ्का—अभी तो अवधवासियोंकी वन्दना समाप्त नहीं हुई थी, बीचहीमें श्रीविदेहजीकी वन्दना कैसे करने लगे ?

समाधान—(क) विचारिये तो श्रीविदेहजी महाराज श्रीदशरथ महाराजकी समताके पाये जाते हैं। दोनोंमें 'गूढ़ प्रेम' था। श्रीजनकजीका प्रेम श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन होते ही प्रकट हो गया और दशरथ महाराजका प्रेम वियोग होनेपर संसारभरको प्रकट हो गया। पुनः दोनोंमें एकही-सा ऐश्वर्य और माधुर्य था। यथा—'*सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू॥*' (बा०३२०) '*जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धरे देही॥*' (बा० ३१०) मनु-शतरूपाजीको अखण्ड परात्पर परब्रह्मके दर्शन हुए, उसे विचारनेसे स्पष्ट है कि परब्रह्मका युगल स्वरूप है जो मिलकर एक ही हैं, अभेद हैं, अभिन्न हैं। इनमेंसे एक स्वरूपसे चक्रवर्ती दशरथ महाराजके यहाँ प्रभु प्रकट हुए और दूसरेसे श्रीजनक महाराजके यहाँ। इससे भी समता हुई। पुनः श्रीदशरथजी पिता हैं और जनक महाराज श्वशुर। पिता और श्वशुरका दर्जा बराबरीका है ही। (ख) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि श्रीजनकजीको रामपरिकर समझकर अवधवासियोंके बीचमें उनकी वन्दना की। और कोई ऐसा उचित स्थान आपकी वन्दनाका न था।

नोट—कोई-कोई महानुभाव 'जाहि' से 'परिजन' और 'विदेहू' दोनोंका अर्थ करते हैं। परन्तु 'जाहि' एक वचन है

जोग भोग महुँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥ २॥

अर्थ—(जिसे उन्होंने) योग और भोगमें छिपा रखा था (परन्तु) श्रीरामचन्द्रजीके देखते ही (उन्होंने) उसे प्रकट कर दिया (वा, वह खुल गया)॥ २॥

नोट—१ '*जोग भोग०*......' इति। योगपूर्वक भोगमें अनासक्त होते हुए सदैव जिस अनिर्वचनीय तत्त्वका वे अनुभव करते थे और जिस आनन्दको प्राप्त होते थे, भगवान् दशरथकुमार श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनोंसे

वही दशा उनकी हुई। इसी प्रकार उस राजर्षि महायोगेश्वरने एक सुन्दर राजकुमारको देखते ही जब उस अनिर्वचनीय आनन्दकी उपेक्षा की, तब उसकी वृत्ति चौंकी, उसको एकाएक विस्मय हुआ कि मेरी वृत्ति उस कौमार छबिमें क्यों तन्मयी हो रही है। इससे यह सन्देह होता है कि ये नररूपधारी वही परब्रह्म तो नहीं हैं। इससे उन्होंने महर्षि विश्वामित्रजीसे पूछा कि *'सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥'''''' इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥''''''सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँद दाता॥'* इत्यादि। (बा० २१६-२१७)

पुनः, दूसरा भाव यह है कि बड़े-बड़े योगेश्वर आपको ब्रह्मज्ञानी योगेश्वर ही समझते रहे और जो इतने दूरदर्शी न थे वे तो यही समझते रहे कि आप राज्य-ऐश्वर्यहीमें पूर्ण आसक्त हैं। आपके प्रेमका ज्ञान भी किसीको न था। कोई योगी समझता था तो कोई भोगी। श्रीरामदर्शन होते ही ब्रह्मसुख अर्थात् योग जाता रहा, बस छिपा हुआ प्रेम सबको देख पड़ा। मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि *'एक बेद गुण अर्द्ध लखु नैन श्रुती गुण अंत। भुज दइ मता विदेह के लखिये संगम संत॥'* अर्थात् विदेहजीका प्रेम श्रीरामजीके परतम स्वरूपहीमें था। वह प्रेमरूपी मणि डब्बेमें रखा था, योग और भोग जिस सम्पुटके ऊपर और नीचेके दोनों भाग थे। जबतक डब्बा न खुले मणिका हाल कोई क्या जाने? यहाँ ब्रह्मसुखका त्याग ही मानो ऊपरके ढक्कनका खुल जाना है।

पं० सूर्यप्रसाद मिश्र यह शङ्का उठाकर कि 'विदेहका अर्थ जीवन्मुक्त है, जीवन्मुक्त होनेपर पुनः रामचरणमें अनुराग कैसा? मतलब छोड़ मूढकी भी प्रवृत्ति किसी काममें नहीं होती, विदेह होनेपर भी राजाका रामचरणमें प्रेम कैसा?' इसका उत्तर देते हैं कि विदेह होनेपर भी फलानुसन्धानरहित प्रेमलक्षणाभक्ति भक्तोंकी अपने स्वामीमें होती है, क्योंकि प्रभुमें ऐसा गुण ही है, वह कहा नहीं जा सकता, भक्त ही जानते हैं। इसीलिये श्रीजनकजीका प्रेम श्रीरघुनाथजीके चरणमें था। यथा—**'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥'** (श्रीमद्भागवत १। ७। १०)

श्रीद्विवेदीजी लिखते हैं कि विदेह जीवन्मुक्त थे। उन्होंने अपने ज्ञानसे सञ्चित और प्रारब्धकर्म दोनोंको भस्म कर डाला था, केवल प्रारब्ध कर्मसे अपनी इच्छासे शरीर रखे थे, इसीसे विदेह कहलाते थे। मुक्ति चार प्रकारकी है। उसमें जनकजीने सामीप्य मुक्तिको पसन्द किया। श्रीरामसमीपमें वासकर उनमें सदा स्नेह रखना यही सामीप्य मुक्ति है।

☞ इस गम्भीर विषयपर श्रीमुखवचन हैं कि *'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥ प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥ मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥'* (३। ४३) यही कारण है कि श्रीसनकादि, नारद आदिने जीवन्मुक्त ज्ञानी होनेपर भी भक्तिहीका वर माँगा है। यथा—*'परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम। प्रेमभगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम॥'* (७। ३४)

नोट—२ श्रीबैजनाथजीका मत है कि विदेहजीमें जो गूढ़ प्रेम था वह 'योग' में गुप्त रहा और परिजनोंका प्रेम 'भोग' में गुप्त था। दोनोंका प्रेम श्रीरामजीका दर्शन होते ही प्रकट हो गया। श्रीजनक महाराजका प्रेम प्रकट हुआ। यथा—*प्रेम मगन मन जानि नृपु करि बिबेक धरि धीर। बोले मुनिपद नाइ सिरु गद्गद गिरा गँभीर॥*' (१। २१५) *'गद्गद गिरा'* प्रेमका लक्षण है। परिजनोंका स्नेह, यथा—*'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥'* (१। २१५) *'जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥'* (१। २२०) *'धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥'* (१। २२०) इत्यादि (परन्तु उनका पाठ है, *'जिन्हहिं रामपद गूढ़ सनेहू'* और प्राचीन पाठ है *'जाहि राम पद गूढ़ सनेहू'*। उन्होंने *'पुरजन'* पाठ दिया है—)।

नोट—३ 'महाराज दशरथजीकी, उनकी रानियोंकी, श्रीअवध-सरयूकी और श्रीअवधपुरवासियोंकी वन्दना की गयी; परन्तु श्रीजनकजीकी वन्दना केवल परिजनोंके सहित की गयी। न तो मिथिलाकी, न कमला-विमलाकी और न मिथिलापुर-नर-नारियोंकी ही वन्दना की, यह क्यों?' इस प्रकारकी शङ्का उठाकर मा० मा० कार उसका समाधान यह करते हैं कि ग्रन्थकारने जो बहुत प्रकारकी वन्दना की है, वह केवल वन्दना ही नहीं है, उसमें वन्दनाके ब्याजसे जीवोंके कल्याणका सुदृढ़ तथा सुगम मार्ग दिखलाया है। राजाधिराज सर्वेश्वर श्रीरामजीके सन्निकट पहुँचनेका मार्ग बताया है। सनत्कुमारसंहिता आदिमें जो दिव्य अयोध्यापुरीमें राजाधिराज श्रीरघुनाथजीके दरबारका वर्णन किया गया है, उसमें महाराज दशरथ, कौसल्यादि माताएँ और सभी पुरजन हैं, तथा श्रीजनक महाराज भी अपने परिजनोंसहित उपस्थित हैं, परन्तु महारानी सुनयनाजी एवं मिथिलापुर-नर-नारियाँ उसमें नहीं हैं। अतएव उनकी वन्दना भी यहाँ नहीं की गयी। पुन: यह ध्यान अयोध्यान्तर्गत है, इससे कमला आदि नदियाँ वहाँ न होनेसे उनकी वन्दना नहीं की गयी।

प्रनवौं प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥ ३॥

अर्थ—पहले श्रीभरतजीके चरणोंको प्रणाम करता हूँ जिनका नियम और व्रत वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ३॥

नोट—१ *'प्रनवौं प्रथम'* इति। इतनी वन्दनाएँ कर चुकनेपर भी यहाँ *'प्रनवौं प्रथम'* कहा। प्रथम पद देनेके भाव ये कहे जाते हैं। (१) भाइयोंमें प्रथम इनकी वन्दना करते हैं, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीके भाइयोंमें ये सबसे बड़े हैं। (२)'गोस्वामीजी अब वन्दनाकी कोटि बदलते हैं। अभीतक श्रीराम-जानकीके पुरवासियों और उनके माता-पिताकी वन्दना की, अब भाइयोंकी वन्दना करते हैं। इसलिये *'प्रथम'* पद दिया। (पं० रा० कु०) अथवा, (३) प्रथम श्रीदशरथजी और जनक महाराजकी वन्दना उनको प्रेमी कहकर की, सो व्यवहारमें इन्हें बड़े समझकर प्रथम इनकी वन्दना की थी। अब प्रेमियोंमें प्रथम भरतकी वन्दना करते हैं, क्योंकि इनसे बढ़कर कोई प्रेमी नहीं है, यथा—*'प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥'* (अयो० २३८) *'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥'* (२। २०८) *'भरतहिं कहहिं सराहि सराही। रामप्रेम मूरति तनु आही॥'* (अयो० १८३) *'जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेम मगन मुनिगन मिथिलेसू॥'* (२। ३०३) *'भगत-सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल।'* (अयो० २१९) पं० रा० कु०, रा० प्र०) अथवा, (४) *'भरतहि जानि राम परिछाहीं'* के भावसे *'प्रथम'* पद दिया गया। (मा० त० वि०) अथवा, (५) गोस्वामीजीने भाइयोंमें इनकी वन्दना प्रथम इस विचारसे की कि श्रीरामजीकी प्राप्ति करानेमें आप मुख्य थे। यथा—*'कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।'* (२। ३२६) (वन्दन पाठकजी) अथवा, (६) इस भावसे प्रथम वन्दना की कि ये श्रीरामजीको सब भाइयोंसे अधिक प्रिय हैं; यथा—*'अगम सनेहु भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को॥'* (२। २४१) *'तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं।'* (२।२०५) *'भयउ न भुवन भरत सम भाई।'* (२। २५९)*'जग जपु राम राम जपु जेही।'* (२। २१८) इत्यादि अथवा, (७) और लोगोंको जितना प्रेम रामचरणमें है, उससे सौगुना प्रेम इनका राम-पादुकामें था, इसीसे लोग इन्हें भक्तशिरोमणि कहते हैं। अत: *'प्रथम'* कहा (सु० द्विवेदीजी) अथवा, (८) ऊपर सबकी मूर्तिकी वन्दना की, अब यहाँसे चरणकी वन्दना चली। इसमें प्रथम भरतजीके पदकी वन्दना की।

चरण-वन्दना

पहले जिन-जिनकी वन्दना की है प्राय: उनके चरणोंको लक्ष्य नहीं किया है, पर अबसे (अर्थात् *'प्रनवौं प्रथम भरत के चरना'* इस चौपाईसे) वे अपने वन्द्यके पदोंको लक्ष्य करके वन्दना करते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँसे वे श्रीरामचन्द्रजीके विशिष्ट अंगरूप अनुजोंकी वन्दना आरम्भ करते हैं, जो भगवान्‌के अभिन्न अंश होनेसे ब्रह्मकोटिकी आत्माएँ हैं। भगवान्‌के चरण परम पूज्य और आराध्य

हैं। भगवत्पद, विष्णुपदकी पूजा प्रशस्त है। अतः उनके अन्य स्वरूपोंके भी चरण पूज्य होंगे। 'पद' या 'पाद' संस्कृत और भाषा साहित्यमें एक बहुत पवित्र और पूज्य शब्द माना जाता है। 'पद' का अर्थ 'स्वरूप' और 'तत्त्व' भी है। जैसे, 'भगवत्पदकी प्राप्ति', इसका अर्थ हुआ—'भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति', 'ब्रह्मत्वकी प्राप्ति'। भगवत्पाद, त्रिपाद, परमपद, रामपद इत्यादि ऐसे ही शब्द हैं। अस्तु, यह शब्द भगवत्सम्बन्धमें विशेषरूपसे व्यवहरित होता है। अतः पद या चरणका उल्लेख करके वन्दना करना भी स्वरूपहीकी वन्दना करना है। गुरुजनोंके चरण पूज्य हैं। उनके चरणोंकी वन्दना करना लोकमें भी प्रशस्त है। अतः सर्वश्रेष्ठ जगद्गुरु भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना की जाती है। (१७। ५) भी देखिये।

नोट—२ *'जासु नेम ब्रत जाइ न बरना'* इति। *'नेम ब्रत'* यथा—*तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा।''''नित नव राम प्रेम पन पीना।''''सम दम संजम नियम उपासा।''''लषन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तन तप कसहीं॥''''सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥''''मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को'* (अयो० ३२४ से ३२६तक) *'तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि। ''''बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।'* (लं० ११६), *'बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृसगात। राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात'* ॥ (उ० १) *'जबतें चित्रकूटतें आए। नंदिग्राम खनि अवनि, डासि कुस, परनकुटी करि छाए॥ अजिन बसन, फल असन, जटा धरे रहत अवधि चित दीन्हें। प्रभु-पद-प्रेम-नेम-ब्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हें॥ सिंहासनपर पूजि पादुका बारहि बार जोहारे। प्रभु-अनुराग माँगि आयसु पुरजन सब काज सँवारे॥ तुलसी ज्यों-ज्यों घटत तेज तनु, त्यौं-त्यौं प्रीति अधिकाई। भए न हैं, न होहिंगे कबहूँ भुवन भरत, से भाई॥'* (गी०२। ७९। १—४) *'जाके प्रिय न राम-बैदेही'''' तज्यो पिता प्रहलाद''''भरत महतारी।'* (विनय० १४७)

नोट—३ **'जाइ न बरना'** इति। यथा—*'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गमु नाहीं॥'* (अयो० ३२५) *'मोहि भावति, कहि आवति, नहि भरतजूकी रहनि।'* (गीतावली २। ८१) इत्यादि।

राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥ ४॥

शब्दार्थ—**पंकज**=कमल। **लुबुध** (लुब्ध)=लुभाया हुआ। **मधुप**=भौंरा।

अर्थ—जिसका मन श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें भौंरेकी तरह लुब्ध है, (उनका) पास नहीं छोड़ता॥ ४॥

टिप्पणी—आपका नेम और प्रेम दोनों दिखाया है। नेम और व्रत तनसे करते हैं; और मन रामचरणमें लगाये हैं। नेमव्रतके पीछे रामपदमें प्रेम कहते हैं; क्योंकि रामपद-प्रेम, नेमव्रत आदि सबका फल है। यथा— *'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धरम कहत श्रुति सज्जन॥ आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥ तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥'* (वसिष्ठोक्ति ७। ४९)

नोट—१ *'लुबुध मधुप इव०'* इति। कमल और भ्रमरका सान्निध्य है, कभी वियोग होता ही नहीं, जहाँ कमल वहाँ भ्रमर। भौंरा दिनभर कमलका रस पीता रहता है। उसमें इतना आसक्त हो जाता है कि सायंकालमें जब कमल सम्पुटित होता है तब वह उसीके भीतर बन्द हो जाता है, उससे बाहर निकलनेकी इच्छा ही नहीं करता, क्योंकि वह रसासक्तिमें विवश रहता है। इसी तरह श्रीभरतजी श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंके अनन्य और अकृत्रिम प्रेमी हैं। यथा—*'परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे॥ साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥'* (२। २८९)

बंदौं लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता॥ ५॥

शब्दार्थ—**जलजाता** (जल+जाता)=कमल। **सुभग**=सुन्दर।

अर्थ—मैं श्रीलक्ष्मणजीके चरणकमलोंको प्रणाम करता हूँ, जो शीतल, सुन्दर और भक्तोंको सुख देनेवाले हैं॥ ५॥

नोट—१ करुणासिन्धुजी तथा रामायणपरिचर्याकार '**सीतल**' आदिको पदका विशेषण मानते हैं और पं० रामकुमारजी इनको लक्ष्मणजीके विशेषण मानते हैं। गोस्वामीजीकी प्राय: यह शैली है कि वे पदकी वन्दना करते हैं और विशेषण उस व्यक्तिके देते हैं जिनके चरणकी वन्दना वे करते हैं। यथा—'***बंदउँ गुरुपदकंज कृपासिंधु नर रूप हरि। महामोह तमपुंज जासु बचन रबिकर निकर॥***' (मं० सो० ५), '***बंदउँ मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयउ। सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित॥***' (१। १४), '***बंदउँ बिधि पद रेनु भवसागर जेहि कीन्ह जहँ। संत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल बिष बारुनी॥***' (१। १४) इत्यादि वन्द्यसे उनके पदोंको अभिन्न मानकर कविने विशेषणोंकी कल्पना की है। भगवान्‌के चरणोंमें ही वन्दना की जाती है। उसीमें लगनेसे लोग बड़भागी कहलाये हैं। (२११ छन्द देखिये) भक्ति इन्हींसे प्रारम्भ और इन्हींपर समाप्त होती है। अत: चरणोंहीकी वन्दना की जाती है। सेवक-स्वामिभाव इसीसे जान पड़ता है। विशेष देखिये (१७। २)

नोट—२ '***सीतल सुभग भगतसुखदाता***' इति। भाव यह है कि (क) शीतल स्वभाव है, सुन्दर गौर शरीर है। यथा—'***सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥***' (२। ११७) अथवा, (ख) शीतल और सुन्दर स्वभाव है, दर्शनसे भक्तोंको सुख देते हैं। पुन: भाव कि (ग) चरणके शरण होते ही त्रिताप दूर होते हैं और परमानन्द प्राप्त होता है। (करु०) पुन:, (घ) श्रीलक्ष्मणजी रामचन्द्रजीके यशको भक्तोंके सामने प्रकाश करनेवाले हैं, जिससे भक्तोंका हृदय शीतल हो जाता है और भक्तोंको बहुत ही सुख प्राप्त होता है, इसलिये शीतल और भगतसुखदाता विशेषण बहुत ही रोचक हैं। (सु०द्विवेदीजी) अथवा, (ङ) शीतलका भाव यह कि महाप्रलयमें सारे जगत्‌के संहारमें जो परिश्रम भगवान्‌को पड़ता है वह तभी जाता है जब भगवान् शेषशय्यापर सोते हैं। जब अंशमें इतनी शीतलता है तो अंशी जो लक्ष्मणजी हैं उनका क्या कहना है। (रा० प्र०)

रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयेउ जस जाका॥ ६॥

शब्दार्थ—**पताका**=झण्डा, बाँस आदिके एक सिरेपर पहनाया हुआ तिकोना या चौकोना कपड़ा जिसपर प्राय: कोई-न-कोई चिह्न रहता है। **दंड**=दण्डा (जिसमें पताका फहराती है।)

अर्थ—श्रीरघुनाथजीकी कीर्त्तिरूपी विमल पताकामें जिनका यश दण्डेके समान हुआ॥ ६॥

नोट—१ (क) श्रीरघुनाथजीकी कीर्तिको पताका और लक्ष्मणजीके यशको दण्ड कहा। भाव यह कि पताका और दण्डा दोनों साथ ही रहते हैं, इसी तरह श्रीरघुनाथजीकी कीर्त्तिके साथ ही श्रीलक्ष्मणजीका यश भी है। उदाहरणमें विश्वामित्रजीके यज्ञकी रक्षा ही ले लीजिये। मारीचादिसे लड़ाई हुई तो सुबाहुको श्रीरामचन्द्रजीने मारा और लक्ष्मणजीने सेनाको। यथा—'***बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥ पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥***' (१। २१०) पुन:, रावणवधकी कीर्त्तिके साथ मेघनादवधका यश इत्यादि। पुन:, (ख) सन्तसिंहजी कहते हैं कि 'जब वस्त्र और बाँस एकत्र हों तभी ध्वजा बनती है; वैसे ही जब रामचन्द्रजीके साथ लक्ष्मणजीके चरित्र मिलते हैं, तभी रामायण होती है। (ग) लक्ष्मणजीकी कीर्त्ति आधाररूप है अत: उसे दण्ड कहा। क्योंकि दण्डके आधारपर पताका फहराती है, दण्ड न हो तो पताका नहीं फहरा सकती। यदि लक्ष्मणजीके चरित निकाल डालें तो रामायणमें कुछ रह ही नहीं जाता! इसीसे लक्ष्मणजीने कभी साथ नहीं छोड़ा। जो काम कोई और भाई न कर सके वह इन्होंने किया। परशुरामवादमें परास्तकी तथा मेघनादके वध और सीतात्यागमें जो कीर्त्ति मिली वह सब इन्हींकी सहायतासे मिली। पुन: (घ) दण्ड और पताकाकी उपमाएँ देकर यह सूचित किया कि आप यशको प्राप्त हुए और स्वामीके यशकी उन्नति करनेवाले हैं। (पं० रा० कु०) (ङ) पताका दण्डमें लगाकर जबतक खड़ी न की जाय तबतक वह दूरतक नहीं देखी जा सकती। इसलिये श्रीरामकी पताकाका दण्डा लक्ष्मणका यश हुआ। श्रीराम बिना अभिमानके नीचे सिर किये हुए विश्वामित्रकी आज्ञासे धनुष तोड़नेके लिये चले, उस समय लक्ष्मणका दिग्गजों इत्यादिसे सावधान होनेके लिये ललकारकर कहना मानों दण्डेमें